प्राचीन काव्यों की रूप-परम्परा

अगरचन्द नाहटा

भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान,
बीकानेर (राजस्थान)

भारतीय विद्या मन्दिर ग्रन्थमाला—४

● परामर्श मंडल

श्री नरोत्तमदास स्वामी अेम. अे.

श्री नाथूराम खड़गावत अेम. अे.

श्री अक्षयचन्द्र शर्मा अेम. अे.

श्री शंभूदयाल सकसेना

● प्रथम संस्करण

शा. सं. १८८४ [१९६२ ई०]

● मूल्य ५.०० रुपये

● प्रकाशक

भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान,
बीकानेर

● मुद्रक

एजुकेशनल प्रेस, बीकानेर

आभार

भारतीय विद्या मंदिर ग्रन्थमाला के अधीन प्रकाशित श्री अगरचन्दजी नाहटा की 'प्राचीन काव्यों की रूप-परम्परा' पुस्तक को विज्ञ पाठकों के हाथों में सौंपते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

प्रतिष्ठान की शुरू से ही यह नीति रही है कि वह मान्य विद्वानो की कृतियों को सुसंपादित रूप में पाठकों के समक्ष रखे। श्री चन्द्रदानजी चारण द्वारा संपादित 'गोगाजी चौहान री राजस्थानी गाथा' का जिस प्रकार साहित्य जगत में आदर हुआ है हमें आशा है इसी प्रकार श्री नाहटा के इन खोज-पूर्ण निबंधों का भी पूर्ण आदर होगा।

प्रतिष्ठान के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री अक्षयचन्द्रजी शर्मा एम० ए०, साहित्यरत्न के कार्य-काल में जिन कृतियों का संपादन और संग्रह हुआ उनमें से यह भी एक है। उनका मार्गदर्शन संस्था के लिये बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में राजस्थान शिक्षा विभाग एवं उसके अध्यक्ष श्री जगन्नाथसिंहजी मेहता के सहयोग के लिये हम उनके बड़े आभारी हैं।

मूलचन्द पारीक
रजिस्ट्रार
भारतीय विद्या मन्दिर, बीकानेर

दो शब्द

राजस्थानी के प्रसिद्ध विद्वान् श्री अगरचन्दजी नाहटा के इन खोज-पूर्ण साहित्यिक निबंधों को पुस्तकाकार प्रकाशित करते हुये हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

बहुत पहले अध्येताओं का ध्यान इन निबन्धों की ओर चला गया था और कई शोध प्रबन्धों के लिये ये आधार-भूत सामग्री प्रस्तुत कर पाये, यह कम गौरव की बात नहीं है।

ऐसी महत्वपूर्ण सामग्री, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी रहने से शोध अध्येताओं को अधिक लाभ नहीं होता था अतः विद्वान पाठक अब इस नये रूप में इनसे और अधिक लाभ उठा पावेंगे।

सत्यनारायण पारीक

अध्यक्ष

भारतीय विद्यामंदिर शोध प्रतिष्ठान

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे गत इकतीस वर्षों में लिखे गये "प्राचीन भाषा काव्यों की रूप परम्परा" के सम्बन्ध मे लेखों का संग्रह है जो समय समय पर पत्र-पत्रिकाओं जैसे—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हिन्दी अनुशीलन, सम्मेलन पत्रिका, भारतीय साहित्य, कल्पना, अजन्ता, मरु-भारती, राजस्थानी, संयुक्त राजस्थान, वासंती, प्रेरणा, देवनागर, राष्ट्र-भारती, शोध पत्रिका, लोक कला, जैन सत्य प्रकाश आदि में प्रकाशित होते रहे हैं। उनमें से केवल चौदह उत्कृष्ट लेखों का संकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में चर्चित रचना प्रकारो के सम्बन्ध मे गुजराती में दो अच्छे लेख प्रकाशित हो चुके हैं। जिसमें से प्रथम "गुजराती साहित्य ना स्वरूपो" के लेखक मेरे विद्वान मित्र डा० मन्जुलाल मजमुदार हैं। उनका ८५० पृष्ठों का यह ग्रन्थ आचार्य बुक डिपो बड़ोदा से सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ है। दूसरा ग्रन्थ "मध्यकालना साहित्य प्रकारो" डा० चन्द्रकान्त मेहता का सन् १९५८ में — एन० एम० त्रिपाठी बम्बई से प्रकाशित हुआ है। हिन्दी साहित्य में भी इसके सम्बन्ध में कुछ उल्लेखनीय काम हुआ है। डा० रामबाबू शर्मा ने "हिन्दी के काव्य रूपों का अध्ययन" शोध प्रबन्ध लिखा है। उसका साराश भारतीय साहित्य के अक्टूबर ५९ के अंक मे प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार अन्य भी कई शोध प्रबन्धों में कतिपय काव्य रूपो की चर्चा की गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के 'फागु' नामक काव्य रूप पर मेरे विद्वान मित्र भोगेलाल साडेसरां ने एक महत्वपूर्ण संग्रह प्रस्तुत किया है। जो सन् १९५५ में प्रकाशित हुआ है। उक्त "प्राचीन फागु संग्रह" नामक ग्रन्थ में ३८ रचनाएं मूल रूप से छपी हैं तथा ग्रन्थारम्भ में फागु के साहित्य प्रकार पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। फागु रचना प्रकार के सम्बन्ध में विद्वद्वर श्री अक्षयचन्द्र शर्मा एम० ए० ने भी एक उल्लेखनीय लेख लिखा है जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हो चुका है। 'रासो' रचना प्रकार के सम्बन्ध में एक विस्तृत अध्ययन और कतिपय महत्वपूर्ण रासो का सग्रह "रास और रासान्वयी काव्य"

नामक ग्रन्थ में किया गया है। यह ग्रन्थ काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो चुका है। "बारहमासों" के सम्बन्ध में डा. महेन्द्र प्रचण्डिया ने शोध प्रबन्ध लिखा है। "विवाहला काव्यों" के सम्बन्ध में श्री पुरुषोत्तम मेनारिया शोध कर रहे हैं। 'वेलि काव्यों' का आलोचनात्मक अध्ययन डा० नरेन्द्र भानावत ने अपने शोध प्रबन्ध में किया है। 'पवाड़ा काव्य' के सम्बन्ध में श्री उषा मल्होत्रा ने शोध कार्य प्रारम्भ किया था। उनके कई लेख और पवाड़े मरु-भारती में प्रकाशित हुए थे, पर वे अपना शोध कार्य पूरा नहीं कर पायीं। 'ख्यालों' के सम्बन्ध में जयपुर निवासी श्री प्रभूदत्तजी ने शोध प्रबन्ध लिखा है, वह अभी तक अप्रकाशित है। 'हियालियों और प्रहेलिकाओं' पर डा० शंकरदयाल चौऋषि— व्यापक शोध कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य भी कई काव्य रूपों के पूर्णत: या आंशिक रूप पर कार्य हो रहा है। उन सब का यहां उल्लेख सम्भव नहीं है।

इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम लेख मेरे सूर्यमळ आसन से दिये हुए "राजस्थानी जैन साहित्य सम्बन्धी तीन अभिभाषणों में से मध्यम अभिभाषण" का एक अंश है। इस में ११७ रचना प्रकारों की नामावली देते हुए ८० काव्य रूपों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इन रचना प्रकारों का सर्वाधिक प्रयोग जैन कवियों ने ही किया है। शताब्दियों तक इस परम्परा को निभाने का श्रेय भी उन्हें ही दिया जा सकता है। जैन कवियों ने एक एक रचना प्रकार वाली कितनी ही रचनाएं निर्मित की हैं। जिनका आभास प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखों से भी अच्छी तरह मिल जाता है। 'बारहमासों' की संख्या तो इतनी अधिक है कि उनकी सूची देना भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार 'गीत' नामक काव्य रूप के भी इतने भेद हैं कि — उनको लेकर स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है। महाकवि समय सुन्दर ने अनेक गीतों का निर्माण किया है जिनका संक्षिप्त विवरण मैंने अजन्ता के एक लेख में दिया है।

इस ग्रन्थ में जिन काव्य-रूपों की चर्चा की गई है वे अधिकांश श्वेताम्बर जैन कवियों द्वारा प्रयुक्त हैं। दिगम्बर जैन कवियों ने इन काव्य रूपों के अतिरिक्त और भी कई काव्य रूप अपनी हिन्दी रचनाओं में अपनाये हैं, जो मेरी जानकारी में हैं; पर उसकी चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं की जा सकी है। इन काव्य रूपों में से अधिकांश की परम्परा अपभ्रंश काल से निरंतर चली आ रही है। अपभ्रंश भाषा की छोटी छोटी बहुत सी रचनाएं गुटका आदि संग्रह प्रतियों में होने से उनकी जानकारी अभी तक प्रकाश में नहीं आई है और बहुत सी ऐसी रचनाओं को दीमक नष्ट भी कर चुकी है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन करने का निर्णय तो दो-तीन वर्ष पूर्व हो गया था, पर कई कारणों से यह अब प्रकाश में आ रहा है। पूरी सावधानी बरतने पर भी कतिपय अशुद्धियां रह ही गई हैं। अगले संस्करण में ही इनका सुधार सम्भव है। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा पाठकों का अवश्य ही ज्ञानवर्द्धन होगा। इस ग्रन्थ को प्रकाशित करके भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान ने एक उपयोगी कार्य किया है। अतः इस संस्था के अध्यक्ष धन्यवाद के पात्र हैं।

— अगरचन्द नाहटा

विषयानुक्रम

प्राचीन भाषा-काव्यों की विविध संज्ञाएँ

उत्तर भारत की समस्त आधुनिक प्रादेशिक भाषाओ का विकास अपभ्रंश भाषा से हुआ है। कुवलयमाला के उद्धरण के अनुसार नवी शती मे सोलह प्रातीय भाषाएँ कुछ मौलिक विशेषताओ के साथ बोलचाल के रूप मे प्रचलित थी; पर आठवी से बारहवी शती तक अपभ्रंश ग्रथो से ज्ञात होता है कि साहित्य की भाषा सर्वत्र एक सी रूढ हो गई थी। उसके प्रातीय रूपो मे अतर विशेष नही था। ग्यारहवी शती से राजस्थानी भाषा के कुछ फुटकर पद्य जैन प्रबध-ग्रंथों मे मिलते हैं। मुंज से संबंधित पद्य इसी समय के हैं। प्रबंध सग्रहों मे मौखिक परंपरा के अनुसार उनका सग्रह किया गया प्रतीत होता है। आचार्य हेमचद्र ने जो प्राचीन दोहे अपने ग्रंथ में सकलित किए हैं वे भी उनसे सौ दोसौ वर्ष पुराने तो अवश्य होगे। अतः उनका भी समय दसवी-ग्यारहवी शती माना जा सकता है। उन दोहो तथा अन्य प्राप्त पद्यों के द्वारा अपभ्रंश से प्राचीन राजस्थानी के विकास के सूत्र मिल जाते हैं।

तेरहवी शती मे लोकभाषा मे काफी परिवर्तन हो चुका था, इसलिये जैन विद्वानों को अपभ्रंश के साथ-साथ तत्कालीन भाषा मे साहित्य-निर्माण करना आवश्यक प्रतीत हुआ, क्योकि अपभ्रंश उस समय सुबोध नही रह गई थी और जैन विद्वानो को जैन धर्म के उपदेशो का प्रचार ऐसी भाषा मे ही करना था जिसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी समझ सके। फलतः तेरहवी शताब्दी से राजस्थानी की रचनाएँ हमे प्राप्त होने लगती है। ये रचनाएँ छोटी-छोटी हैं और सभवतः मंदिरों एवं उत्सवों मे गीत एव नृत्य के साथ प्रचारित करने के उद्देश्य से रची गई है। नृत्य और गीत के साथ लंबे काव्यो के अभिनय मे सुविधा नही होती, अत. वडे-बडे काव्य सस्कृत,प्राकृत एव अपभ्रंश मे ही रचे जाते रहे। 'रास'-सज्ञक रचनाएँ मूलतः नृत्य के साथ गाई जाती थी। चौदहवी शती तक वे लकुटीरास, तालकरास आदि के नृत्य एव गीत के साथ प्रचारित होती रही, ऐसा ग्रथकारो द्वारा रासो के अत मे किए गए निर्देश से

आख्यान; (३४) कथा; (३५) सतक; (३६) बहोत्तरी; (३७) छत्तीसी; (३८) सतरी; (३९) बतीसी; (४०) इक्कीसो; (४१) इकतीसो; (४२) चौबीसी; (४३) बीसी; (४४) अष्टक (४५) स्तुति; (४६) स्तवन; (४७) स्तोत्र; (४८) गीत; (४९) सज्झाय; (५०) चैत्यवंदन; (५१) देववदन; (५२) वीनती; (५३) नमस्कार; (५४) प्रभाती; (५५) मगल; (५६) साझ; (५७) बधावा; (५८) गहूँली; (५९) हीयाली, (६०) गूढा; (६१) गजल; (६२)लावणी; (६३) छद; (६४) नीसाणी; (६५) नवरसो; (६६) प्रवहण; (६७) पारणो; (६८) वाहण (६९) पट्टावली; (७०) गुर्वावली, (७१) हमचडी; (७२) हीच; (७३) मालामालिका; (७४) नाममाला; (७५) रागमाला (७६) कुलक, (७७) पूजा; (७८) गीता; (७९) पट्टाभिषेक; (८०) निर्वाण, (८१) सयमश्री विवाह वर्णन; (८२) भास; (८३) पद; (८४) मजरी, (८५) रसावलो; (८६) रसायन; (८७) रस-लहरी; (८८) चद्रावला; (८९) दीपक; (९०) प्रदीपिका; (९१) फुलडा; (९२) जोड़; (९३) परिक्रम, (९४) कल्पलता, (९५) लेख; (९६) विरह, (९७) मूँदडी; (९८) सत; (९९) प्रकाश; (१००) होरी; (१०१) तरग, (१०२) तरंगिणी; (१०३) चौक (१०४) हुँडी; (१०५) हरण; (१०६) विलास, (१०७) गरबा; (१०८) बोली; (१०९) अमृतध्वनि; (११०) हालरियो; (१११) रसोई, (११२) कड़ा; (११३) झूलणा; (११४) जकडी; (११५) दोहा; (११६) कुडलिया, (११७) छप्पय आदि।

इन समस्त संज्ञाओ का विवरण देना इस लेख मे सभव नही, अत. प्रधान संज्ञाओ का ही सक्षेप मे स्पष्टीकरण किया जायगा।

(१) रास—राजस्थानी एवं गुजराती भाषा की बडी रचनाओ मे सबसे अधिक रास-संज्ञक ही है। रास-सज्ञक रचनाओ का निर्माण अपभ्र श-काल से ही प्रारभ हो जाता हे। उपदेशरसायनरास और सदेशरास अपभ्र श की ही रचनाएँ है। इनमे से उपदेश-रसायनरास का नाम उसके रचयिता जिनदत्त सूरि ने केवल 'उपदेशरसायन' ही दिया है, परतु उसके टीकाकार सूरि जी के प्रशिष्य के शिष्य जिनपाल उपाध्याय ने उसमें 'रासक' जोडकर उसे 'उपदेशरसायन रास' सज्ञा दे दी है। यह ग्रथ साधारण जैन जनता के लिये उपदेश के रूप मे, विशेषतः उस समय प्रचलित अविधि को हटाने और विधि मार्ग का प्रचार करने के उद्देश्य से, पद्धटिकाबद्ध ८० गेय पद्यो मे रचा गया है। टीकाकार के कथनानुसार यह सब रागों मे गाया जा सकता है। इस ग्रन्थ के छत्तीसवे पद्य मे तालारासु और लगुड़ारासु नामक दो प्रकार के रासो का उल्लेख किया गया है—

स्पष्ट है। इस समय के बडे-बड़े रास उपलब्ध नहीं हैं। पंद्रहवीं शती से अपेक्षाकृत बडे रास रचे जाने लगे और क्रमशः उनका विस्तार बढता गया। तब उनका उद्देश्य कथावस्तु का विस्तार से वर्णन करना हो गया और वे व्याख्यानों आदि मे गा-गाकर लंबे समय तक सुनाए जाने लगे। आज भी जैन समाज में यह प्रथा प्रचलित है। कुछ वर्ष पूर्व तक श्वेताबर जैन समाज मे नियमित रूप से दोपहर एवं रात का व्याख्यान इन रासों को गाकर ही किया जाता रहा है। गाँवों में अब भी ऐसा प्रचार है; पर नगरों में कम होता जा रहा है। रासों के द्वारा व्याख्यान देनेवालों को लोग कम पढा-लिखा समझने लगे, इसलिये व्याख्याताओ को अपनी विद्वत्ता का परिचय देने के लिये प्राकृत एवं संस्कृत काव्यादि ग्रथों को अपने व्याख्यानों में अधिकता से अपनाना पडा, जिस प्रकार कि राजस्थान मे जैन मुनियों को, जिनके व्याख्यान कुछ समय पहले तक मारवाडी भाषा में हुआ करते थे, अब उसी कारण से मारवाडी का स्थान हिन्दी को देना पड़ा है। फिर भी गाँव मे, जहा शिक्षित व्यक्ति कम है, जैन मुनियों के व्याख्यान मारवाड़ी में ही होते है और उनमें रास, ढालें आदि गाकर सुनाई जाती हैं। तेरहपथी संप्रदाय में आज अधिकतर व्याख्यान मारवाडी में ही होते हैं और चातुर्मास्य में रात के समय नियमित रूप से मुनि केशराज रचित रामयशोरसायन रास की ढालें गाकर सुनाई जाती है। परन्तु समय के प्रभाव से अब इनमें भी हिंदी में भाषण देना प्रारंभ हो गया है, क्योंकि इसके बिना नवशिक्षितों का आकर्षण कम होता है और वक्ता भी शिक्षितों की कोटि में नही समझे जाते। स्थानकवासी सप्रदाय में रास अब भी रचे जाते है, पर उनकी भाषा राजस्थानी के बदले हिंदी प्रधान हो गई है। गुजरात मे गुजराती के समृद्ध हो जाने के कारण आज भी रास गुजराती में ही रचे जाते है।

यहां भाषा-काव्यो का परिचय देने के पूर्व उनकी विविध संज्ञाओं की एक सूची प्रस्तुत की जाती है।

(१) रास; (२) सधि; (३) चौपाई; (४) फागु; (५) धमाल (६) विवाहलो; (७) धवल; (८) मगल; (९) वेलि; (१०) सलोक; (११) संवाद; (१२) वाद; (१३) झगडो; (१४) मातृका; (१५) बावनी; (१६) कक्क; (१७) बारहमासा; (१८) चौमासा; (१९) पवाडा; (२०) चर्चरी (चाँचरि); (२१) जन्माभिषेक (२२) कलश; (२३) तीर्थमाला; (२४) चैत्यपरिपाटी; (२५) संघ वर्णन; (२६) ढाल; (२७) ढालिया; (२८) चौढालिया; (२९) छढालिया, (३०) प्रबंध; (३१) चरित; (३२) संबंध; (३३)

मूल—तालारासु वि दिंति रयणिहिं, दिवसि वि लगडारासु सहुँ पुरिसिहिं ।

टीका—तालारासकमपि न ददति श्राद्धा रजन्यां प्रदीपोद्योतेऽपि तदानीमदृश्यसूक्ष्मपिपीलिकादिध्वंसहेतुत्वात् । दिवसेऽपि लगुडरासं पुरुषैस्सार्धमास्ता योषिद्भिः तस्यान्तविटचेष्टारूपत्वात् कदाचित् प्रमादवशान्मस्तकाद्याघातहेतुत्वात् ।

आशय यह है कि उस समय जैन मंदिरों में श्रावक आदि लोग रात्रि के समय तालियों के साथ (ताल देकर) रासों को गाया करते थे, उसमे जीवहिंसा की संभावना के कारण रात्रि में तालरास का निषेध किया गया है ।* इसी प्रकार दिन में पुरुषों के स्त्रियों के साथ लगुडारास करने (डंडियों के साथ नृत्य करते हुए रास गाने) को भी अनुचित बताया गया है । जैन मंदिरों में ये दोनों रास चौदहवी शती तक खेले जाते थे, यह स० १३२७ मे रचित सप्तक्षेत्री रास से भली भांति स्पष्ट हो जाता है—

बइसइ सहूइ श्रमणसंघ सावय गुणवता ।
जोअइ इच्छवु जिनह भुवणि मनि हरख धरंता ।।
तीछे तालारस पडइ बहु भाट पढंता ।
अनइ लकुटारस जोईइ खेला नाचता ।।४८।।
सविहू सरीखा सिणगार सवि तेवड तेवडा ।
नाचइ धामीय रंभरे तउ भावहि रूडा ।
सुललित वाणी मधुरि सादि जिणगुण गायंता ।
ताल मानु छंद गीत मेलु वाजित्र वाजंता ।।४९।।

(प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह, सप्तक्षेत्रिरासु, पृष्ठ ५२)

रास-संज्ञक दूसरी अपभ्रंश रचना संदेशरासक है । इसके रचयिता कवि अब्दुल रहमान ने चौथे पद्य मे इसका नाम 'सनेहय रासयं' और उन्नीसवें पद्य में 'संनेह रासउ' दिया है, जो दोनो ही 'सन्देश रासक' के अपभ्रंश है । रासय' शब्द सस्कृत 'रासक' का अपभ्रंश है । उसका परवर्ती विकार य के स्थान मे उ होकर रासउ' हो गया ।

रासक का उल्लेख हर्षचरित (बाणभट्ट, सातवी शताब्दी) मे मिलता है । यह एक

*— सं० १३०० के लगभग जिनेश्वर सूरि के श्रावक जगडू रचित सम्यकत्वमाई चउपई में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—तालारासु रयणि नहि देइ, लउडा रासु मूलह वारेइ ।। २१ ।। (प्रा० गु० काव्य संग्रह, पृ० ८०)

उपरूपक-विशेष है। वाग्भट्ट और हेमचंद्र ने काव्यानुशासन मे रासक के संबंध में निम्नोक्त स्पष्टीकरण किया है—

डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-भाणिका-प्रेरण-शिंगक-रामाक्रीड़-हल्लीसक-श्रीगदित--रासक गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि। (वाग्भट्ट)

गेयं डोम्बिका-भाण - प्रस्थान-शिंगक-भाणिका-प्रेरण-रामाक्रीड़-हल्लीसक-रासक-गोष्ठी-श्रीगदित–राग काव्यादि। (हेमचन्द्र)

वाग्भट्ट के काव्यानुशासन की वृत्ति के अनुसार ये सब डोंबिकादि गेय रूपक है।

पदार्थाभिनयस्वभावनि डोम्बिकादीनि गेयनि रूपकाणि चिरन्तनैरुक्तानि।

इन्ही मे से रासक भी एक रूपक है जिसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतु षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्।।

अर्थात् रासक एक ऐसा कोमल और उद्धत गेय रूपक है जिसमें अनेक नर्तकियाँ होती है, अनेक प्रकार के ताल और लय होते है और ६४ तक के युगल होते हैं।

पीछे रास, रासु अथवा राउम शब्द प्रधानतया कथाकाव्यो के लिये रूढ–सा हो गया और रसप्रधान रचना रास मानी जाने लगी। 'रास' एक छद विशेष भी है। राजस्थानी मे रासो शब्द का प्रयोग लड़ाई-झगड़े या गडबड़-घोटाले के अर्थ मे भी प्रयुक्त होने लगा है। परन्तु प्राचीन जैन रचनाओ के नामो मे तो रास शब्द का ही प्रयोग मिलता है, रासो का नही कई पुरानी रचनाओ मे 'रासु' भी मिलता है। सतरहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं अठारहवी शती की कुछ विनोदात्मक रचनाओ मे 'रासो' और 'रासौ' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। उदर रासो और माकड रासो आदि ऐसे ही रास है।

(२) संधि—अपभ्रंश काव्यों के सर्गो की सज्ञा 'सधि' है। आचार्य हेमचद्र ने महाकाव्य की व्याख्या करते हुए लिखा हैं—

पद्यंप्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नवृत्तसर्गाश्वासरान्ध्यवस्कन्धकबन्ध सत्सन्धिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।

अर्थात् महाकाव्य मुख-प्रतिमुखादि सधियो एवं शब्द-अर्थ की विचित्रता से युक्त होता है तथा सस्कृत महाकाव्य सर्गो मे, प्राकृत आश्वासो मे अपभ्रंश सधियो में एवं ग्राम्य स्कधो मे निबद्ध होता है।

'संधि' शब्द मूलतः अपभ्रंश महाकाव्य के सर्गों के लिये ही प्रयुक्त होता था, किंतु तेरहवी-चौदहवी शती में वह एक सर्ग वाले खड काव्यो के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। अपभ्रंश मे जिनप्रभ सूरि आदि की सधि-सज्ञक पद्रह रचनाएँ मिलती है। संधियों की परपरा उन्नीसवी शती तक निरतर चलती रही। चौदहवी शती के तो दो ही सधि-काव्य मिलते है, किंतु सोलहवी से उन्नीसवी तक राजस्थानी एवं गुजराती भाषा में वे पचासों की संख्या मे प्राप्त है, जिनमें राजस्थानी अधिक है और उनमे भी खरतरगच्छीय विद्वानो के सबसे अधिक।

(३) चौपाई—रास के बाद बड़ी रचनाओं मे सबसे अधिक 'चौपाई' नामक रचनाएँ मिलती है। चौपाई या चौपई का सस्कृत रूप चतुष्पदी भी प्रयुक्त मिलता है। मूलतः यह चौपाई छदों मे लिखी रचनाओं का नाम था, पर पीछे 'रासो' की भांति चरितकाव्य के लिये रूढ़ हो गया, यहा तक कि कही कही एक ही रचना की संज्ञा किसी ने चौपाई लिख दी तो दूसरे ने रास। चौपाई छद तो अपभ्रंश काव्यों मे भी प्रयुक्त हुआ है, पर उन ग्रथो का नाम चौपाई नही रखा गया।

चौदहवी शती से राजस्थानी रचनाओं के नामो मे इस सज्ञा का प्रयोग मिलने लगता है। नेमिनाथ चतुष्पदिका, सम्यकत्वाई चौपाई–ये दो सोलहवी शती की रचनाएँ प्राचीन गुर्जर काव्यसग्रह मे प्रकाशित है। इनमे से दूसरी रचना मे लिखा है—'हासामिसि चउपई बधु कियउ।

(४-५) फागु-धमाल— वसंत ऋतु का प्रधान उत्सव फाल्गुन महीने मे होता है। उस समय नर नारी मिलकर एक दूसरे पर अबीर आदि डालते हैं और जल की पिचकारियो से क्रीड़ा करते अर्थात् फाग खेलते है। जिन मे वसंत ऋतु के उल्लास का कुछ वर्णन हो या जो वसंत ऋतु मे गाई जाती हैं ऐसी रचनाओं को फागु- संज्ञा दी गई है। इन रचनाओ की यह विशेषता है कि इनमे शब्दालकार के साथ यमक बध अनुप्रास पाया जाता है। इस शैली को 'फागु बंध' कहा गया है। कुछ पद्य उदाहरणार्थ उद्धृत किए जाते है—

अणहिलवाडउं पाटण, पाटण नयर जे राउ।
दीसई जिहां श्रीअं जिणहर, मणहर संपद ठाउ ॥८

(जै० ऐ० गु० काव्यसंचय, 'देवरत्नसूरि फाग', पृ० १५१)

पहिलूं सरसति अरचीसू रचीसूं वसत विलास।
वीण धरइ करि दाहिण, वाहणं हंसलु जास ॥

पहुतीय तिहुयणी हिव रति, वरति पहुती वसंत;
दह दिसि परसइ परिमल, निरमल थ्या नभ अंत ॥ २
(प्रा० गु० काव्य 'वसंत विलास', पृ० १५)

समरवि त्रिभुवनसामणि, कामणि सिरि सिणगार।
कवियण वयणि जा वरसइ सरइस अमिउ अपार ॥ १ ॥
(जोरापल्ली पार्श्वनाथ फागु, पृ० ६७)

यह शैली फागु-संबधी सभी रचनाओ में नही अपनाई गई है। स्थूलभद्र फाग और पिछले अन्य फागों मे भी यह नही है।

फागु और धमाल दोनों ही एक प्रसग से संवधित है, अतः कई रचनाओ की संज्ञा किसी ने फागु दी है तो किसी ने धमाल। फागु और धमाल के छंद एवं रागिनी मे अंतर होगा, पर पीछे से ये दोनो नाम होली के आसपास गाई जानेवाली रचनाओं के लिये प्रयुक्त होने लगे। प्राचीन दिगबर रचनाओ मे धमाल' का प्राकृत रूप 'ढमाल' भी मिलता है। इधर लगभग डेढ सौ वर्षों से छोटे-छोटे भजन डफ और चगों पर गाए जाने लगे है, उनकी सज्ञा 'होरी' भी पाई जाती है। फागु एव धमाल-संज्ञक रचनाएँ इनसे काफी बड़ी होती थी। बहुत से व्यक्ति मिल कर चग ढोल, डफ और झाँझ आदि वाद्यो के साथ उन्हें गाते थे, तब एक कोलाहल सा मच जाता था, इससे बोलचाल मे 'धमाल' का प्रयोग 'कोलाहल' वा उपद्रव' के अर्थ मे भी होता है।

फागु-संज्ञक रचनाएँ धमाल से अधिक प्राचीन और अधिक सख्या मे मिलती है। सं० १३५० के आसपास से ऐसी रचनाओ का प्रारभ होता है। उपलब्ध फागु काव्यों मे खरतरगच्छीय जिनप्रबोध सूरि का जिनचद सूरि फागु सर्वप्रथम और सबसे प्राचीन है। अठारहवी शताब्दी के प्रारभ के खरतरगच्छीय यति राजहर्ष द्वारा रचित 'नेमिफाग' अतिम कृति है। राजस्थानी एव गुजराती में फागु-संज्ञक लगभग ५० रचनाएँ उपलब्ध हुई है, जिनका परिचय 'जैन सत्यप्रकाश' (वर्ष ११, १२ एव १४) मे प्रकाशित है। धमाल-सज्ञक रचनाएँ ८-१० ही प्राप्त है और वे सतरहवी शताब्दी की ही अधिक है।

(६-८) विवाहलो, धवल, मंगल—जिस रचना में विवाह का वर्णन हो उसे 'विवाहला' कहते है। जैन कवियो ने नेमिनाथ आदि तीर्थंकरो और जैनाचार्यों के 'सयमश्री' के साथ विवाह के प्रसंग को लेकर बहुत से विवाहले रचे है। आचार्यो के लौकिक विवाह का तो कोई प्रसंग था नही, क्योंकि वे ब्रह्मचारी ही रहते थे; अतः उसके

द्वारा ग्रहण किए गए व्रतो को ही सयमश्री रूपी कन्या मान उसी के साथ उनके विवाह का वर्णन इन काव्यो मे रूपक के रूप मे दिया गया है। उदाहरणार्थ कवि सोममूर्ति द्वारा स० १३३१ मे रचित 'जिनेश्वर सूरि सयमश्री विवाह वर्णन रास' मे जिनेश्वरसूरि, जिनका बाल्यावस्था का नाम अबड़कुमार था, जब दीक्षा लेने की तैयारी करते है तो पहले अपनी माता से दीक्षा की अनुमति मांगते हुए कहते है—

इहु संसारु दुहह भंडारु , ता हउं मेल्हिसु अतिहि असारु ॥६॥
परिणिसु सजमसिरि वरनारी, माई माईए मज्झु मणह पियारी।

इसके पश्चात् जब वे दीक्षा ग्रहण करने के लिए गुरुश्री के पास जाते हैं उस समय यान ले जाने, बाजे बजने, जीमनवार (भोज) होने, चँवरी (मडप) मँडने, और अग्नि-साक्षि से सयमश्री का पाणिग्रहण करने का वर्णन बहुत ही सुंदर रूपको के साथ किया गया है। यहाँ कुछ उद्धरण दिये जाते है—

अभिनव ए चालिय जानउत्र, अंबडु तणइ विवाहि।
अप्पुणु ए धम्म चक्कवइ, हूयउ जानह माहि ॥ १६ ॥
कारइ कारइ 'नेमिचदु', भडारिउ उच्छाहु ।
वाधइ वाधइ जान देखि, लखमिणि हरखु अबाहु ॥ १६ ॥
कुसलिहि खेमहि जानउत्र, पहुतिय खेड मज्झारि ।
उच्छवु हूयउ अइ पवरो, नाचइ फरफर नारि ॥ २० ॥
जिणवइ सूरिण मुणि· पवरो, देसण अमिय रसेण।
कारिय जीमणवार तहि, जानह हरिस भरेण ॥ २१ ॥
संति जिणेसर नर भुयणि, मांडिउ नदि सुवेहि ।
वरसिहि भविय दाण जलि, जिम गयणगणि मेह ॥ २२ ॥
तहि अगयारिय नीपजइ, झाणानलि पजलति ।
तउ सवेगहि निम्मियउ, हथलेवउ सुमुहुति ॥ २३ ॥
इणि परि 'अंबडु'वर कुयरु, परिणइ संजम नारि।
वाजइ नदीयतूर घणा, गूडिय घर घर बारि ॥ २४ ॥

उपाध्याय मेरुनंदन के जिनोदयसूरि विवाहला मे भी ऐसा ही सुन्दर वर्णन

है । उसमे विवाह करानेवाले जोशी का स्थान गुरुश्री को दिया गया है । ये दोनों काव्य हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह' में प्रकाशित हो चुके है ।

विवाहला-सज्ञक उपलब्ध रचनाओ मे सबसे प्राचीन जिनप्रभसूरि रचित अतरग-विवाह अपभ्र'श भाषा मे उपलब्ध है । यह भी आध्यात्मिक विवाह है आदिमत की पक्तिया इस प्रकार है—

प्रारंभ—पमाय गुणठाणए तहिं अहे भवियजिउ निरुवमु वरु ए ।
चहुविह संघु जानउत्र कीय अहे वाहण सहस सीलग ।। १ ।।

अत—इणपरि परिणए जो अ जगि अहे लहइ सो सिद्धिपुरि वासु ।
मंगलिकु वीर जिणप्रभ ए अहे मगलिकु चहुवीह संघ ए ।।

(अतरग विवाह धवल वसंतरागेण भणनीय)

इसकी रचना स० १३०० के आसपास की है और इसके बाद ही जिनेश्वर-सूरि–संयमश्री रास का स्थान है । इस प्रकार चौदहवी शताब्दी से ऐसे काव्यों का निर्माण होने लगता है और बीसवी शताब्दी तक क्रम जारी रहता है। ऐसी लगभग ४ रचनाओं का अभी तक पता चला है ।

विवाह मे गाए जानेवाले गीतों को 'धवल' वा 'मंगल' कहा जाता है और विवाह स्वयं एक मागलिक कार्य माना जाता है, अतः कई रचनाओ मे विवाह के साथ 'धवल' शब्द भी नामात पद के रूप मे व्यवहृत है, जैसा कि ऊपर 'अतरग विवाह' के साथ यह जुड़ा हुआ मिलता है । धवल-सज्ञक रचनाओ का प्रारंभ तेहरवीं शताब्दी से होता है । 'जिनपति सूरि धवल गीत' उपलब्ध रचनाओ मे सबसे प्राचीन है, जो हमारे 'ऐतिहासिक जैन-काव्य-सग्रह' मे प्रकाशित है । ऋषभदेव-विवाहले को सज्ञा 'धवलबध' दी गई है । नेमिनाथ धवल, वासपूज्य धवल, आदि कुछ रचनाए 'धवल'-संज्ञक प्राप्त है । हिन्दी, राजस्थानी और बँगला मे जो 'मगल' सज्ञा वाले काव्य मिलते है, वे इसी परम्परा की देन है । राजस्थानी का प्राचीन काव्य 'रुकमणी मगल' बहुत प्रसिद्ध लोककाव्य है । पर इसका नामात पद 'मगल' आधुनिक है । मूलतः लेखक ने इसकी सज्ञा 'विवाहलो' ही दी है । इसकी सबसे प्राचीन प्रति स० १६६९ की प्रस्तुत लेखक के सग्रह में है और दो प्रतिया उसे बीसवी शती की प्राप्त हुई है इसका मूल रूप बहुत छोटा था, परन्तु समय-समय पर इसमे लोकप्रियता के कारण परिवर्तन परिवर्द्धन होते रहे । प्रकाशित

सस्करण हमारी प्रति से कोई बंद्रह-बीस गुना बढ़ गया है।

(९) वेलि— राजस्थानी साहित्य मे 'क्रिसन-रुकमणी री वेलि' बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस संज्ञा का स्पष्टीकरण करते हुए 'वेलि' अर्थात् लता का सुन्दर रूपक निम्नोक्त दो पद्यों में दिया गया है—

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ, महिथाणौ प्रिथुदास मुख।
मूल ताल जड़ अरथ मंड हे, सुथिर करणि चढि छांह सुख ॥२९१॥
पत्र अवखर दल द्वाला जस परिमल नवरस तंतु विधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सुभगति मंजरि फूल फल भुगति मिसि ॥२९२॥

इस सज्ञावाली पचास रचनाओं का मुझे पता लग चुका है, जिनमे पंद्रह राजस्थानी तथा दो गुजराती जैनेतर रचनाएँ (सीतावेलि और व्रजवेलि) हैं। हिन्दी में भी 'मनोरथ वल्लरी' तुलसीदास और भगवानदास रचित ज्ञात हुई है। २१ रचनाएँ जैनों विद्वानों द्वारा रचित है, जिनमे वाच्छा श्रावक की 'चहुँगति वेलि' सबसे प्राचीन है। इसका समय सं० १५२८ के लगभग है। इसी शताब्दी मे सीहा, लावण्यसमय और सहजसुन्दर ने भी वेलिया बनाईं। सतरहवी से उन्नीसवी शताब्दी तक यह क्रम जारी रहा। सं० १८८९ के बाद इस सज्ञा वाली कोई रचना उपलब्ध नही है।*

(१०) सलोका— मूलतः संस्कृत 'श्लोक' शब्द से जनभाषा में सलोका या सिलोका शब्द प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। मध्यकाल में वर जब विवाह के लिये ससुराल जाता तो उसकी बुद्धि की परीक्षा के लिये पहले वर का साला कुछ श्लोक कहता और फिर उसकी प्रतिस्पर्धा में वर श्लोको द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय देता था। पंद्रहवीं शती के लगभग की एक रचना हमारे निजी संग्रह मे है जिसमे वर ने साले को संबोधन करते हुए अपने आराध्य देव, गुरु, कुलदेवी, गोत्र, मातापिता, नगर, उसके शासक, तुरग, तोरण आदि के वर्णनात्मक श्लोक कहे है। लोक भाषा मे उनकी व्याख्या भी है। इसके अन्त में वरदान एव सुखप्राप्ति के लिये गणेश और सरस्वती की प्रार्थना की गई है। उदाहरण के लिये विवाह-मडप, कन्या की प्राप्ति आदि के श्लोक कहकर साले का कुतूहल पूर्ण करने की सूचना वाले तीन पद्य यहां दिए जाते है—

*उपलब्ध रचनाओं के सम्बन्ध में श्री कापड़िया का लेख 'जैन-धर्म-प्रकाश', वर्ष ६५ अंक २ में प्रकाशित है।

मध्यनिर्मितमनोहरवेदिः प्रेक्षणादिककुतूहलपूर्णः ।
गीतलीनतरुणीप्रणरम्यः स्वर्गखण्ड इव मंडप एषः ॥ ८ ॥

अहो शालक ! जेहनइ मध्यि चहू दिसि नूतन वेहि जवारा करिउ मंडित । लक्ष्मी करिउ अखंडित, चउरी चतुर चितु चोरइ । प्रेक्ष्यणीय प्रमुख कुतूहल संकुलु । धवल-मंगल गीतगान-तत्पर-सुन्दर-जन-मनोहरु · विचित्र पवित्र चंद्रोदय सहितु सवर्गखण्डविजित्वरु मंडपु सोभइ ॥ ८ ॥

तप्तं तपः साधुजनाय दत्तं दान स्मृता पंचनमस्क्रिया च ।
सतीर्थयात्रा विहिता च तेन पुण्येन लब्धा भवतः स्वसेय ॥ १६ ॥

अहो शालक ! मइ पूर्विलइ भवि निर्मलु बार भेदु तपु कीधउ । चारि त्रिया तपोधन किही भावना पूर्वाकु दानु दीधउ । अनइ जिनशासन सारु पंच परमेष्ठि नमस्कारु स्मस्त्रउ श्री शत्रुंजय गिरिनार सरीखइ तीर्थि जाइउ । श्री वीतराग पूज्या । तीणि पुण्य करिउ मइ ताहरी बहिण लाधी । १६ ॥

नालिकेरशतमेकमानय तत्र पूगशतपच तथैव ।
शालक प्रचुरकाव्यसंचयैः पूरयामि तव कौतुक यथा ॥१७॥

अहो शालक ! जइ किमइ मुझरहइ नालिकेर नउ सतु । अनइ फोफल ना पाच सय । ढोयणि करइ एक मडि दियइ । तउ हउ सर्वलोक समक्षु अनेकि सलोकि करिउ आपण । शालक नउ कुतूहलु पूरवउ ॥ १७ ॥

विवाह के समय साले और वर के द्वारा सिलोक कहने की प्रथा प्राचीन है । विमल मन्त्री के विवाह के प्रसंग मे कवि लावण्यसमय ने विमलप्रबन्ध मे इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

प्रुहता तोरणि जोइ लोक, सीख्या साला कहि शलोक ।
विम वाणि श्रमणे सांभली, ग्या साला ते दह दिशि टली ॥६४॥

खतरगच्छ के शातिसागर सूरि और जिनसमुद्र सूरि के प्रवेशोत्सव आदि के वर्णनवाली दो रचनाएँ 'राजस्थानी', भाग २ मे प्रकाशित हो चुकी है । वे भी ''अहो शालक'' सबोधन के साथ है, अतः वे भी उपर्युक्त विवाह प्रसंग मे वर के द्वारा कही जाने

के लिये ही बनाई गई प्रतीत होती है।

आगे चलकर उक्त प्रथा एवं तद्विषयक रचना के प्रकार में अन्तर आ गया। गुजरात के उत्तरी भाग और राजस्थान मे विवाह प्रसंग मे सिलोके कहे जाते हैं जिन्हें बरातियों मे से जानकार लोग मन्दिर मे देवी-देवताओं एवं वीरों के गुणों का वर्णन करते हुए विशेष ढग के साथ कहकर सुनाते है। इन सबकी शैली रूढ़ हो गई है। राजस्थानी भाषा के छन्द-ग्रन्थ 'रघुनाथरूपक' में वचनिका का दूसरा भेद 'सिलोको' बतलाते हुए जो उदाहरण दिया है, वह नीचे दिया जाता है। उपलब्ध सलोको मे यही शैली प्रयुक्त मिलती है—

> दूजो भेद इणनूं लोकोकत सिलोको ही कहै छै।
> बोलै सीतांपत इसड़ीजी बांणी, सुरनर नागां नै लागै सुहांणी।
> सेसाजल हणमत जिमही सरसाई, वीरां अवरांरी कीधी बडाई॥
> धनुधररा वायक सांभल जोधारा, पोरस अंगों में वधियो अणपारा।
> पुणवै कर जोड़ जीतव फल पायो, मानै श्रीखांवद इतरो फुरमायो॥

इस शैली के जैन-जैनेतर पचासो राजस्थानी-गुजराती सिलोके प्राप्त है, जिनमे बीसों छप भी चुके है। अठारहवी शती से इसका रचनाक्रम चलता है और उन्नीसवी के भी काफी सिलोके मिलते है। बीसवी शती मे यह प्रथा कमजोर होने लगती है। अब नगरों मे सिलोका कहने की प्रथा का अन्त हो गया है, परन्तु गावो मे यह अभी तक प्रचलित है।

(११-१३) संवाद-बाद-झगडो— कवि-हृदय विलक्षण होता है। वह अपनी कल्पना द्वारा, जिन वस्तुओ में वास्तव मे कोई विवाद नही उनमें भी विरोधी भावना उत्पन्न करके उनके मुँह से अपने गुण और महत्व का और दूसरे की हीनता का वर्णन कराता है। उन दोनों के प्रसंग के कवि की प्रतिभा का सुन्दर परिचय प्रस्तुत हो जाता है। ऐसी रचनाओं का संज्ञा 'सम्वाद', 'वाद' अथवा 'झगड़ो' रखी गई है। संस्कृत के 'संवादसुन्दर' ग्रन्थ मे भी ऐसे नौ संवाद संकलित हैं। राजस्थानी एवं गुजराती में ऐसी लगभग तीस रचनाएं प्राप्त हुई हैं, जो चौदहवी शती से उन्नीसवी तक की हैं। जैनेतर संवादात्मक रचनाओं में बीकानेर के महाराजा रायसिंह के आश्रित कवि बारहठ शंकर का 'दातार सूर रो संवाद' प्राप्त है। हिन्दी भाषा में भी नरहरि आदि कवियों द्वारा कई

आ श्रीकैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर
द्वारा सप्रेम भेंट ता

संवादात्मक रचनाएँ लिखी गई हैं ।

(१४-१६) मातृका-बावनी-कक्क— इनमें वर्णमाला के अक्षर ५२ मानते हुए प्रत्येक वर्ण से प्रारम्भ करके प्रासंगिक पद्य रचे जाते है। ऐसी रचनाओं की संज्ञा 'बावनी' है । अपभ्रंश से ऐसी रचनाओं का प्रारम्भ होता है । इसकी अन्य संज्ञा 'कक्क' है । हिन्दी मे इसे 'अखरावट' भी कहते हैं । तेरहवीं-चौदहवी शताब्दी की ऐसी चार रचनाएँ— शालिभद्र कक्क, दूहा मात्रिका, सम्यकत्वमाई चौपाई, मात्रिका चौपाई-प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह मे प्रकाशित हैं । ये बावनी के पूर्व रूप है । सोलहवी शताब्दी से ऐसी रचनाओं का नाम 'बावनी' व्यवहृत हुआ है, यद्यपि आदि अंत मे कुछ अन्य पद्य जोडने से पद्यों की संख्या ५५ ५७, या ६० तक पहुँच गई हैं । कुछ रचनाएं मातृकाक्षरों के क्रम पर नही रची गई , पर उनकी पद्य-संख्या ५२ से कुछ ही अधिक होने पर उनको भी 'बावनी' कहा गया है । हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती तीनों भाषाओं में जैन कवियों द्वारा रचित पचास के लगभग बावनिया है । भिन्न-भिन्न छन्दों मे रची होने से इनके नाम दूहाबावनी, सवैयाबावनी, कवित्तबावनी, कुण्डलिया-बावनी आदि रखे गए हैं और कुछ के नाम विषय के अनुसार धर्मबावनी, गुणबावनी इत्यादि मिलते है । टीकमगढ़ से प्रकाशित 'मधुकर' पत्र मे कई वर्ष पूर्व 'बावनी-संज्ञक हिन्दी रचनाएँ' शीर्षक लेख प्रकाशित हो चुका है । हिन्दी भाषा की कतिपय बावनियों, बारहखड़ियों, बत्तीसियों आदि का विवरण लेखक द्वारा संपादित 'राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज', भाग ४ में दिया गया है। इनमे वर्णमाला के अक्षरों का क्रम इस प्रकार रखा गया मिलता है— ओं (न मो सि द्ध) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ. अं, अः, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष ।

(१७-१८) बारहमासा चौमासा— बारह महीनो के ऋतु-परिवर्तन एवं विरह-भाव को व्यक्त करनेवाली रचनाओका नाम 'बारहमासा' है । जैन और जैनेतर दोनों प्रकार के बारहमासे सैकड़ों की संख्या मे मिलते है । साधारणतया एक-एक महीने का वर्णन एक-एक पद्य मे होने से १५—२० पद्यो मे ये रचे जाते हैं । पर कई बारहमासे बहुत बड़े बडे भी है, जिनकी पद्य—संख्या ४९—५० से लेकर १०० से ऊपर तक पहुँच गई है । प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी रचनाओ मे इन बारहमासो का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है ।

DELISTED
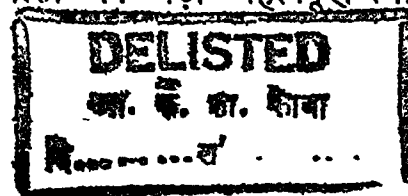
उपलब्ध बारहमासों में सबसे प्राचीन 'जिनधर्मसूरि बारह नांवउ' है, जिसकी पद्य-संख्या ५० है। यह तेरहवी शताब्दी की रचना है और पाटन की तालपत्रीय प्रति मे उपलब्ध है। नमूने के लिये कुछ पंक्तिया नीचे दी जाती हैं—

तिहुयण मणि चूडामणिहिं, बारहनावउं धमसुरि नाहह।
निसुणेहु सुयणहु ! नाण सणाहह पहिलउं सावण सिरि फुरिय ॥१॥
कुवलय दल सामल घणु गज्जइ नं मद्दलु मंडल उभुणि छज्जइ।
विज्जुलड़ी झबकिहिं लवइ मणहरु वित्थारेवि कला सु।
अन्नु करेविणु कलि केका रवु फिरि फिरि नाचहि मोरला।
मेहणि हार हरिय छमिणवर त्रीजण भयउ हिय नीलंबर
विथलिय नव मालइ कलिय ॥२॥

बारहमासे नेमिनाथ और स्थूलिभद्र सम्बन्धी अधिक मिलते है। इसी प्रकार चार मास का वर्णन करनेवाले 'चौमासे' भी प्राप्त हैं।

(१९) पवाड़ा— किसी व्यक्ति के विशिष्ट कार्यों का वर्णन करनेवाली रचनाओं को 'पवाडा' कहते हैं। पंद्रहवी शती मे हीरानंद सूरि रचित 'विद्याविलास पवाड़ो' मिलता है। कुछ अन्य जैन पवाड़े भी प्राप्त है, पर उनकी संख्या अधिक नही। सांइयाभूला के नागदमण' ग्रन्थ में 'पवाड़ा पनगा तणउ' शब्द मिलता है। बाद मे महाराष्ट्र मे पवाड़ों की परंपरा बहुत जोरों से प्रचलित हुई, पर यह शब्द वीर-काव्य के लिये रूढ़ हो गया।

राजस्थानी भाषा मे 'पाबू जी के पवाडे' बहुत प्रसिद्ध हैं। ये पवाडे करुण एवं वीर रस से सराबोर हैं। इनमे से 'सोढी जी रो पवाड़ो' 'राजस्थानी-भारती,' वर्ष ३ अंक २ में प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार कई अन्य पवाडे भी राजस्थानी में प्रसिद्ध हैं। ये पवाड़े 'पड़' (घटनाओं का दिग्दर्शन कराने वाला चित्रपट) को दिखाते हुए गाए जाते हैं।

(२०) चर्चरी— रास की भाँति ताल एवं नृत्य के साथ, विशेषत: उत्सव आदि में, गाई जानेवाली रचना को 'चर्चरी' संज्ञा दी गई है। विक्रमोर्वशीय के चतुर्थांक में अपभ्रंश भाषा के कई चर्चरी पद्य पाए जाते है, इससे इस संज्ञा की प्राचीनता का पता चलता है। प्राकृत-पिंगल में चर्चरी नामक छंद भी बतलाया गया है। 'चर्चरी' और

'चाचरी' इसके नामांतर हैं। जायसी मे भी फागुन और होली के प्रसंग मे चाचरि या चाँचर का उल्लेख है। जिनदत्त सूरि जी ने जिनवल्लभ सूरि जी की स्तुति में ४७ पद्यों की चर्चरी नामक रचना अपभ्रंश में रची है, जो अपभ्रंश 'काव्यत्रयी' मे प्रकाशित है। इसके पश्चात् जिनप्रभ सूरि, सोलण, जिनेश्वर सूरि और एक अज्ञात कर्ता की, ये चार चर्चरियाँ चौदहवी शती मे रची गई। इनमे से सोलण वाली ३८ पद्यों की रचना प्रा० गु० काव्यसंग्रह मे प्रकाशित है।*

(२१-२२) जन्माभिषेक, कलश— तीर्थंकरो के जन्म के अवसर पर उन्हें इंद्रादि देव मेरुशिखर पर ले जाकर स्नातक करते हैं, उस समय के भाव को प्रकाशित करनेवाली रचना को 'जन्माभिषेक' वा 'कलश' संज्ञा दी गई है। तीर्थंकर की प्रतिमा को कलश से स्नान कराते ममय ये रचानाएँ बोली जाती है। ऐसी लगभग १५ रचनाएँ चौदहवीं से सोलहवी शती तक की उपलब्ध हैं। अब उनका स्थान पीछे की बनी हुई 'स्नात्रपूजा' ने ले लिया है, अत: इसका प्रचार नहो रहा। इस विषय पर 'जैन सत्य प्रकाश,' वर्ष १४ अंक ४ में प्रो० हीरालाल कापडिया का 'जम्माभिसेय ने महावीर कलस' लेख प्रकाशित है।

(२३-२५) तीर्थमाला, चैत्य-परिपाटी एवं संघवर्णन— जिस रचना मे जैन तीर्थों की नामावली हो उसे 'तीर्थमाला', जिसमे एक ही स्थान वा अनेक स्थानों के जैन मंदिरों की यात्रा का अनुक्रम से वर्णन हो उसे 'चैत्य-परिपाटी' वा 'परिवाड़ी' तथा जिसमें साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका चतुर्विध संघ के साथ की गई तीर्थयात्रा का वर्णन हो उसे 'संघवर्णन' संज्ञा दी गई है। तीर्थमाला तो प्राचीन भी मिलती है, पर चैत्य-परिपाटी चौदहवी शताब्दी से ही प्राप्त है। संघवर्णन सतरहवी शताब्दी से अधिक प्राप्त होता है। अनेक स्थानों की ऐतिहासिक सामग्री ऐसी रचनाओं में संकलित है। कई तीर्थमालाएँ बहुत विस्तार से लिखी गई हैं और उनमें भारत के प्राय: सभी जैन तीर्थों के वर्णन हैं। तीर्थयात्रा-वर्णनात्मक स्तवन भी छोटे-बडे अनेक मिलते हैं। प्राचीन तीर्थों का संग्रह 'तीर्थमाला-संग्रह', 'पाटण चैत्य परिपाटी' एव ऐसी अन्य बहुत-सी रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। अप्रकाशित रचनाएं हमने संगृहीत कर ली हैं, वे यथासमय प्रकाशित की जायंगी।

*विशेष द्रष्टव्य—अपभ्रंश काव्यत्रयी पृष्ठ ११४, १४ एव 'जैन सत्य प्रकाश' 'वर्ष १२ अंक ६ में प्रकाशित श्री हीरालाल कापडिया का 'चर्चरी' शीर्षक लेख।

(२६-२६) ढाल, ढालिया, चौढालिया, छढालिया आदि— इस रचना के गाने की तर्ज या देशी की संज्ञा 'ढाल' है। सतरहवी शती में जब रास, चौपाई आदि की रचना लोकगीतों की देशियों मे होने लगी तब इनकी संज्ञा ढाल-बद्ध हो गई। बडे-बडे रासों में शताधिक ढालें पाई जाती हैं। चार या छः ढालोंवाली छोटी रचनाओं को संख्या के अनुसार चौढालिया या छढालिया कहा गया है। अनेक प्रकार की देशियों वा तर्जों में रचे होने के कारण गुणसागर सूरि के 'हरिवश रास' को 'ढाल-सागर' भी कहा गया है। तेरहवीं से पद्रहवी शती तक की रचनाएँ चौपाई, रासा, भास, वस्तु, ठवणी आदि छंदों मे बनाई जाती थी। प्राचीन रचनाओं मे एक छद के पूरे हो जाने पर एक 'कड़वक' का पूरा होना माना जाता था। इसी तरह जब ढालों का प्रचार हुआ तो एक ढाल के अन्त मे दोहा या छन्द देकर उसे पूरा किया जाता था। ढालों मे रची जाने के कारण रचना को 'ढालिया' संज्ञा भी दी गई है।

ढालों को किस देशी के तर्ज पर गाना चाहिए, इसका निर्देश उन ढालों के प्रारम्भ में उस देशी की प्रारम्भिक पंक्ति उद्धृत करके किया गया है। देशियों की प्रथम पंक्तियों के इन उद्धरणों से सहस्रों प्राचीन लोकगीतो के अस्तित्व का पता चलता है। श्री देसाई ने बहुत-सी देशियों का संग्रह 'जैन गुर्जर कविओं' के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया था। पर अभी इस दिशा में बहुत कार्य शेष है।

(३०-३४) प्रबन्ध, चरित्र, सम्बन्ध, आख्यानक, कथा— चरित्र, आख्यानक और कथा प्रायः एकार्थवाची है। जो ग्रन्थ जिसके सम्बन्ध मे लिखा गया है उसे कही कहीं उसके नाम से उसका 'सम्बन्ध' या 'प्रबन्ध' कहा गया है।

(३५-४४) सतक, बहोत्तरी, सत्तरी, छत्तीसी, बत्तीसी, इक्कीसी, इकतीसी, चौबीसी, बीसी, अष्टक आदि—

ये सब नाम रचानाओं के पद्यों की संख्या के सूचक हैं। इनमें से कई बत्तीसियाँ बावनी की भांति वर्णमाला के बत्तीस अक्षरों से प्रारम्भ होनेवाले पद्यों की भी हैं। चौबीसी और बीसी चौबीस तीर्थंकरों और बीस विहरमानों के स्वप्नों के संग्रह रूप है।

(४५-५३, ८३) स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, गीत, सज्झाय, चैत्यवदन, देववंदन, वीनती, नमस्कार, पद आदि—

इनमे तीर्थंकारों या अन्य जैन महापुरुषों के गुणों का वर्णन है। स्तुतिप्रधान रचनाओ को स्तवन, स्तुति, स्तोत्र वा गीत सज्ञा दी गई है। इनमे स्तुतियाँ चार

पद्योंवाली होती है, जिन्हे 'थूई' भी कहते है। चैत्यवंदन, मन्दिर मे वदन करने की क्रिया-विशेष है। बैठकर स्तवन करते समय पहले चैत्यवदन पढा जाता है। देववदन पर्व-दिवसों के लिये विशेष अनुष्ठानरूप है। विनयप्रधान रचना को विज्ञप्ति या वीनती कहते है। गेय पदों की संज्ञा गीत है। साधुओं व सतियों के गुण वर्णन करनेवाले तथा दुर्गुणो के परिहार एव सद्गुणो के स्वीकार के प्रेरणादायक गीत 'स्वाध्याय' या 'सज्झाय' कहलाते है। 'पद' विशेष रूप से आध्यात्मिक गीतो को कहते है। वे राग-रागनियो मे गाए जाते है।

(५४-५८) प्रभाती, मगल, साझ, बधावा, गहूँली आदि— प्रातःकाल गाए जानेवाले गीतो को 'प्रभाती' एव 'मगल' और सध्या समय गाए जानेवालों को 'साँझ' या 'साँझी' कहते हैं। आचार्यों के आगमन पर बधाई के रूप मे गाए जानेवाले गीतो को 'बधावा' वा 'बधावणा' और आचार्यो के सम्मुख चावल के स्वस्तिक आदि की गहूँली करते समय उनके गुणवर्णनादि के जो गीत गाए जाते है उन्हे 'गहूँली' कहते है।

(५९-६०) हीयाली, गूढा— जिन पदों का अर्थ गूढ हो, उन्हें 'गूढा' कहते है। किसी वस्तु के नाम गुप्त रखते हुए, नाम को स्पष्ट करने वाली विशेष बातों का वर्णन जिनमे किया गया हो ऐसी रचनाओ को 'ही।ली' या 'हरियाली' कहते है। हिन्दी मे इन्हे 'कूट' कहा जाता है। इनके द्वारा बुद्धि की परीक्षा की जाती है। रासो मे पति-पत्नी की परस्पर गोष्ठी का जहाँ वर्णन आता है वहाँ वे हीयालियो एव गूढाओ द्वारा परस्पर मनोरजन एव विनोद करते पाए जाते है। प्राकृत सुभाषित-ग्रन्थ 'वज्जालग्ग' मे हीयाली वज्जा की पद्धति है। उससे तो हीयाली भी गूढा जैसी ही एकपद्यवाली रचना प्रतीत होती है। परन्तु जैन कवियों की प्राप्त हीयालिया ५ ७ वा १० पद्यों तक की भी मिलती है। सोलहवी शताब्दी से ऐसी हीयालियो का विशेष प्रचार हुआ। ये सैंकडों की सख्या मे मिलती है। लगभग पचास तो हमारे ही संग्रह मे है। उनमे कई वडी सुन्दर है। जैन मुनियो ने अपने नित्य के व्यवहार में आनेवाले ओघा, मुँहपत्ति, स्थापनाचारी आदि से सम्बन्धित हीयालिया भी बनाई है। ज्ञानसार जी रचित गूढाबावनी ग्रन्थ हमारी ज्ञानसार-ग्रन्थावली मे छप चुका है।

(६१-६४) गजल, लावणी, छद, नीसाणी आदि—जैन कवियो की गजल-सज्ञक रचनाओं मे नगरो और स्थानो का वर्णन है। इनकी रचना का एक विशेष प्रकार होता था। सभी गजले उस एक ही शैली मे रची गई है। सबसे प्राचीन नगर-वर्णनात्मक गजल जटमल नाहर रचित 'लाहोर गजल' है, जो स० १६८० के आसपास की है। भाषा

हिन्दी है। अठारहवीं और उन्नीसवी शती में गजलें रचने का बड़ा प्रचार रहा है। लगभग चालीस गजलें मैंने संगृहीत की है। उनकी भाषा प्रधानतया हिन्दी होने पर भी उनमें राजस्थानी के शब्दो का व्यवहार प्रचुरता से किया गया है। लावणी, नीसांणी और छन्द भी रचना के विशेष प्रकार हैं। छन्द जैन तीर्थंकरों में पार्श्वनाथ के अधिक मिलते हैं। वैसे लोकमान्य देवी देवताओ के सम्बन्ध में तो काफी संख्या में मिलते है। सतरहवीं से उन्नीसवी शती तक इनका प्रचार अधिक रहा। लावणी अधिक प्राचीन नही मिलती।

(६५-६८) नवरसो, प्रवहण, वाहण, पारणो आदि— जिस रचना में नौ रसों का वर्णन हो उसका नामात पद 'नवरसा' मिलता है। स्थूलभद्र और नेमिनाथ के दो ही नवरसे ज्ञात हैं। 'प्रवहण' और 'वाहण' उन रचनाओं के नाम हैं जिनमें जहाज के रूपक का वर्णन होता है। भगवान महावीर आदि तपस्वियों के पारणे का जिसमें वर्णन हो ऐसी रचना की सज्ञा 'पारण' रखी गई है।

(६९-७०) पट्टावली-गुर्वावली— इनमें जैन गच्छों की आचार्य-परम्परा का इतिवृत्त संकलित किया गया है। पट्ट-परम्परा वा गुरु-परम्परा का वर्णन होने से इसका नाम पट्टावाली वा गुर्वावली प्रसिद्ध है।

(७१-७२) हमचडी-हीच— तालियों से ताल देते हुए और संगीत की लय के साथ पावों से ठेका देते हुए रास की भाति गोलाकार घूमते हुए जिस रचना को पुरुष गाते है उसे 'हीच' और जिसे स्त्रिया गाती हैं उसे 'हमचडी' कहते है। कभी कभी पुरुष और स्त्रियां साथ-साथ भी गाती है। इस संज्ञावाली जैन रचनाएँ दो-चार ही मिलती हैं।

(७३-७५) माला, मालिका, नामामाला, रागमाला आदि— जिन रचनाओं में तीर्थंकरों के विशेषणों वा साधुओं के नामों की माला गुंफित की गई हो उन्हें नाममाला मुनिमालिका, आदि संज्ञा दी जाती है। शील के रूपकों के नामोंवाली रूपकमाला-संज्ञक दो जैन रचनाएँ सोलहवीं शती की प्राप्त है। जिन रचनाओं मे राग-रागनियों के नामों को ग्रथित किया हो उन्हे रागमाला' कहा जाता है।

(७६) कुलक— जिस रचना में किसी शास्त्रीय विषय की आवश्यक बातें संक्षेप मे संकलित की गइ हों या किसी व्यक्ति का संक्षिप्त परिचय दिया गया हो उसकी संज्ञा 'कुलक' वा 'कुलउ' दी गई है। प्राकृत एवं अपभ्रंश में सैकडों कुलक मिलते हैं, जिनकी सूची संकलित करके मैंने 'जैनधर्म प्रकाश', वर्ष ६४ अक ८, ११, १२ मे

प्रकाशित की है । राजस्थानी में सोहलवी सतरहवी शताब्दी के कुछ कुलक प्राप्त हैं ।

(७७) पूजा— जैनागम रायपसेणीय सूत्र मे तीर्थंकरों की मूर्ति में सतरह प्रकार की पूजन विधि का वर्णन है । जवूद्वीपपह्नति आदि में तीर्थंकरों की जन्माभिषेक-विधि का विस्तृत विवरण है । मध्यकाल में अष्ट प्रकार की पूजा का बड़ा प्रचार रहा । इसके सम्बन्ध मे प्राकृत भाषा मे कथाग्रन्थ भी मिलते है । उन पूजाओ में मे स्नात्रविधि पहले संस्कृत मे की जाती थी और पीछे अपभ्रंश के जन्माभिषेक और कलश भी इसी विधि मे सम्मिलित कर दिए गए । पद्रहवी शताब्दी तक तो यही क्रम चालू रहा, पर सोलहवी मे कवि देपाल ने तत्कालीन भाषा मे स्नात्रविधि की रचना की । फिर इस संज्ञावाली अनेक पद्य रचनाएँ राजस्थानी और गुजराती मे वनती चली गई । अष्टप्रकारी पूजा भी पहले एक एक श्लोक बोलकर कर ली जाती थी । पीछे से उसके विस्तृत वर्णनवाली पूजाएं भी लोकभाषा मे रची गई । अन्य पूजाओं मे भी इन आठ प्रकारो को महत्त्व दिया गया है । सत्तरभेदी पूजा का सतरहवी शताब्दी मे तपागच्छीय सकलचद और खरतरगच्छीय साधुकीर्ति आदि ने सर्वप्रथम लोकभाषा मे निर्माण किया । पूजाओ का प्रचार उन्नीसवी शताब्दी मे बडे जोरो से हुआ । फलतः पचासो विविध नामोंवाली पूजाओ का उन्नीसवी शती से अव तक निर्माण होता रहा है ।

(७८) गीता — भगवद्गीता का प्रचार विगत कई शताब्दियो से बढता चला आ रहा है अतः 'गीता' शब्द की लोकप्रियता से आकर्षित होकर कुछ जैन विद्वानो ने इस नामात पदवाली रचनाएँ भी की हैं, जिसका कुछ परिचय मैंने 'श्रमण', वर्ष २ अक ९ मे 'गीता-संज्ञक जैन रचनाएँ' लेख मे दिया है ।

(७९-८०) पट्टाभिषेक, निर्वाण, संयमश्री विवाह वर्णन आदि— जिस रचना मे जैनाचार्यो के पट्टाभिषेक (आचार्य-पद-प्राप्ति) का वर्णन हो उसे 'पट्टाभिषेक रास' एवं जिसमे उनकी स्वर्ग-प्राप्ति या निर्वाण वर्णन हो उसे 'निर्वाण' तथा जिसमे दीक्षा-वर्णन की प्रधानता हो उसे 'संयमश्री विवाह वर्णन' संज्ञा दी गई है ।

संधि संज्ञक काव्य

अपभ्रंश भाषा उत्तर-भारत की बहुत-सी प्रमुख भाषाओं की जननी है अतः उन भाषाओं के समुचित अध्ययन के लिये अपभ्रंश के सांगोपांग अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है। हर्ष की बात है कि कुछ वर्षों से विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है और अपभ्रंश-साहित्य के अन्वेषण, अध्ययन एवं प्रकाशन का कार्य दिनोदिन आगे बढता जा रहा है। प्रोफेसर हीरालालजी जैन का अपभ्रंश भाषा का बहुत अच्छा अध्ययन है। इसी प्रकार प० परमानन्दजी के अन्वेषण से अनेक नवीन तथा अज्ञात अपभ्रंश ग्रन्थो का पता लगा है। बहुत दिनो से मेरी इच्छा थी कि अपभ्रंश साहित्य पर पूर्ण प्रकाश डालने वाला इतिहास ग्रन्थ तय्यार किया जाय। दो तीन वर्ष हुए मैंने उक्त दोनो विद्वानों को पत्र लिख कर अपभ्रंश साहित्य का इतिहास लिखने का अनुरोध भी किया था। उत्तर में प्रोफेसर साहब ने सूचित किया कि उन्होंने इस विषय में एक विस्तृत निबंध लिख कर नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका मे प्रकाशनार्थ भेजा है। प० परमानन्दजी ने लिखा कि वे एक ऐसा ग्रन्थ लिखने की तय्यारी कर रहे है। अत. मैंने विचार किया कि इन दोनों अधिकारी विद्वानो की कृतियां प्रकाशित होने पर ही मेरा कुछ लिखना उचित होगा और मैंने अपना इस सबंध का शोध-कार्य स्थगित कर दिया। इसीबीच मे शाति-निकेतन मे प० हजारीप्रसाद द्विवेदी से भेंट होने पर उन्होने अपभ्रंश साहित्य पर लिखने के लिये स्नेहानुरोध किया परन्तु अपभ्रंश साहित्य दिगंबर जैन विद्वानों का रचा हुआ ही अधिक है और मेरी ओर दिगबर साहित्य की कमी है अतः इस कार्य को हाथ मे लेना उचित प्रतीत नही हुआ।

अभी कुछ दिन पूर्व नागरी-प्रचारिणी- पत्रिका में प्रकाशित प्रोफेसर हीरालाल जी का निबन्ध दृष्टिगत हुआ और विश्व भारती आदि पत्रिकाओं मे श्रीयुत रामसिंह तोमर के लेख भी पढने मे आये। इनसे पुराने विचार को नवीन प्रेरणा मिली और इस विषय मे शोध का कार्य आरम्भ किया जिसके फल-स्वरूप पांच-सात निबन्ध लिखे गये जिनको पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने का श्रीगणेश इस निबन्ध द्वारा किया

जा रहा है।

प० परमानन्द जी इस विषय मे क्या नवीन जानकारी देते है यह जानना अभी शेष है अतः अभी मैं उन्ही बातो पर प्रकाश डालू गा जिनके सम्बन्ध मे इन दोनो दिगबर विद्वानों की जानकारी बहुत सीमित होगी, अर्थात श्वेताम्बर विद्वानो के रचे हुए साहित्य पर। यदि समय और सयोगो ने साथ दिया तो विशेष विचार भविष्य मे किया जायगा।

अपभ्रंश साहित्य की चर्चा करते समय श्वेताम्बर विद्वानो की अपभ्र श साहित्य की महान सेवा को भुलाया नही जा सकता। जिस प्रकार दिगबर ग्रन्थकारो ने अपभ्र श के बडे–बड़े महाकाव्य लिखे है उसी प्रकार श्वेताम्बर विद्वानो ने विविध नामो और प्रकारों वाले लघु काव्य लिखने मे कौशल का परिचय दिया है। परवर्त्ती श्वेताबर साहित्यकारो को अपभ्रंश के इस लघु–काव्य–साहित्य से बडी भारी प्रेरणा मिली जिससे उनने इन विविध परम्पराओ को अक्षुण्ण ही नही रखा किन्तु वे उन्हे विकसित करने और नये-नये अनेक रूप देने मे समर्थ हुए। सधिकाव्य की परम्परा भी एक ऐसी ही परम्परा हैं और उसी के विषय मे प्रकाश डालने का प्रयत्न इस निबन्ध मे किया जा रहा है।

प्रस्तुत लेख के लिखने की प्रेरणा मुनि श्री जिनविजयजी के एक पत्र से मिली जिस मे उनने लिखा था—

मेरी एक विद्यार्थिनी, जो पी-एच० डी० का अभ्यास कर रही है, वह कुछ अपभ्रंश आदि की सधि, जैसे आनन्द सधि, भावना सधि, केशी-गोयम–सधि इत्यादि प्रकार के जो सधि-प्रकरण है, उनका एक सग्रह कर रही है और संधि के स्वरूप आदि के विषय मे शोध कर रही है। अभी उसने जिक्र किया और आपको पत्र लिखने बैठा। इससे स्फुरित हुआ कि आपके पास वैसी बहुत-सी कृतिया होगी। अगर हो तो भेज दे ताकि उनका अच्छा उपयोग हो। चन्दनदास-सधि, सुबाहु-सधि आदि ऐसे अनेक प्रकरण है। पाटण वगैरह मे कुछ प्रतियाँ है। उनको भी यथावकाश प्राप्त करने का प्रयत्न करूंगा। पर इससे पहले आपके पास से जल्दी सुलभता के साथ मिल सकेगी ऐसी आशा से आपको लिख रहा हूं।

मुनिजी का अनुमान सही निकला। अपने संग्रह की सूची को ध्यान से देखने पर उसमे बहुत बडी सख्यामे सधि-काव्य प्राप्त हुये। अपभ्रंश सधि-काव्यो के साथ-साथ अठारह-बीस परवर्त्ती सधिकाव्य भाषाके भी उपलब्ध हुए। इनके अतिरिक्त बीकानेर बृहद ज्ञान-

भंडार आदि अन्यान्य संग्रहों में भी सधिकाव्योंकी अनेक प्रतिया विद्यमान हैं जिनमेसे कई-अेक नवीन भी हैं।

संधि नाम का अर्थ

अपभ्रंश मे संधि शब्द संस्कृत के सर्ग या अध्याय के अर्थ मे आता है। आचार्य हेमचन्द्र लिखते है—

पद्यं प्रायः सस्कृत-प्राकृतऽपभ्रंश-ग्राम्य भाषा-निबद्धभिन्नान्त्यवृत्त-सर्गाऽऽश्वास-सध्यवस्कधक-बध सत्सधि शब्दार्थ-वैचित्र्योपेत महाकाव्यम्।

इससे जान पड़ता है कि संस्कृतके महाकाव्य सर्गों मे, प्राकृतके महाकाव्य आश्वाशो मे, अपभ्रंश के महाकाव्य सधियों मे और ग्राम्यभाषा के महाकाव्य अवस्कधों मे विभक्त होते थे। परवर्त्ती कवियों ने अेक सधिवाले खडकाव्योंको सधिकाव्य नाम दिया।

महाकाव्यका प्रत्येक सधि अनेक कड़वकों मे विभक्त होता था। इन सधिकाव्यों मे से कई कड़वकों मे विभक्त है, कई नही है।

अपभ्रंश के सधि-काव्य

हमारी शोध से अभी तक नीचे लिखे अपभ्रंश के सधिकाव्योंका पता चला है —

(१) अनाथि—सधि

कर्त्ता— जिनप्रभ सूरि

समय— संवत १२९७ के लगभग।

कथा वस्तु के लिये उत्तराध्ययन सूत्र देखना चाहिअे।

आदि—जस्स ज्जवि माहप्पा परमप्पा पाणिणो लहुँ हुँति
तं तित्थं सुपसत्थ जयइ जअे वीर-जिण-पहुणो
विसअेहिं विनडिउ कसाय-जगडिउ हा अणाहु तिहुयणु भमइ
जो अप्प जाणइ सम-सुहु माणइ अप्पारामि सु अभिरमइ
रायगिहि नयरि सेणीउ राउ गुरुभत्ति निवेसिय वीयराउ
सो अन्न-दिवसि उज्जाणि पत्तु मुणि पिक्खवि पणमइ नमिय-गत्तु

अंत— चारु चउ-सरणु गमणो दाणाइ सु धम्म पत्त पाहेउ
सीलंग-रहारूढो जिणपह पहिओ सया सुहिओ
अणाथिया-सधि ॥ कडव ॥२॥

(२) जीवानुशास्ति सन्धि

कर्त्ता— जिनप्रभ

आदि— जस्स वहाणज्जवि तव-सिरि-समलकिया जिया हुँति
सो णिच्च पि श्रणग्घो स'घो भट्टारगो जयइ ॥१॥
मोहारिहि जगडिय विसर्याहिं विनडिय
तिक्ख-दुक्ख-खंडिय खडियहं चिरु !
संसार-विरत्तह पसमिय चित्तह
सत्तहं देमि गुसट्ठि निरु ॥२॥

अत— इय विविह-पयारिहि विहि-श्रणुसारिहि
भाविहिं जिणपहु मणुसरहु
सुत्तेण य पवरिहिं श्राणासु तरिहि
भवियण भव-सायरु तरहु ॥३१८॥
जीवानुशास्ति-सधिः समाप्तः

(३) मयणरेहा-सधि

विस्तार— कडवंक ५

कर्त्ता— जिनप्रभ

समय— संवत १२९७, श्राश्विन शुक्ला ६

आदि— निरुवम-नाण-निहाणो पसम-पहाणो विवेय-सनिहाणो
दुग्गइ-दार-पिहाणो जिन-धम्मो जयइ सुह-कामो ॥१॥
सुमरिवि जिण-सासणु सुह-निहि-सासणु
सिरि-नमि-महरिसि मणि धरिउ
पभणिसु सखेविहिं मयणरेह-महा-सइ-चरिउ ॥२॥

श्रत— श्रेसा महा-सईश्रे संधी संधीव सजम-निवस्स
ज नमि-निवरिसणा सह ससक्करा खीर सजोगो ॥२॥
वारह-सत्ताणउश्रे वरिसे श्रासोश्र-सुद्ध छट्ठिश्रे
सिरि-सघ-पत्थणाश्रे श्रेय लिहिय सुश्राभिहिय ॥३॥

मयणरेहा-संधि समाप्तः ॥

(४) वज्रस्वामि-संधि

कर्त्ता— वरदत्त (?)

आदि— अह जण निसुणिज्जउ कन्नु धरिज्जउ
वयरसामि-मुणियर-चरिउ

अंत— मुणिवर वरदत्ति जाणहर भत्ति वयरसामि— गणहर— चरिउ।
साहिज्जहु भावि मुच्चहु पावि जि तिहयणु निय-गुण-भरिउ ॥६६॥
चरिउ सुसारउ भविय वियारउ वइरसामि-गणहर— चरिउ।
जो पढइ कियायरु गुण-रयणारु सो लहु पावइ परम पउ।

वइरसामि-संधिः समाप्तः ॥

(५) अंतरंग–सन्धि

कर्त्ता— रत्नप्रभ

आदि— पणमवि दुह-खडण दुरिय-विहडण जगमंडण जिण सिद्धिठिय
मुणि-कन्न-रसायणु गुण-गण-भायणु अंतरग मुणि संधि जिय ॥१॥
इह अत्थि गामु भव-बास णामु बहु-जीव-ठामु विसयाभिरामु
दीसंति जत्थ अणदिट्ठ छेह बहु-रोग-सोग-दुहु जोग-गेह ॥२॥

अंत— अहि अतह कारणु विस-उत्तारणु ज गुलिमंतह पढणु जिम
कय सिव-सुह-सधिहि अेह सुसधिहि चितणु जाणु भविय ! तिम ॥१८॥

इति अतरग-संधिः समाप्तः। इति नवमोधिकारः ॥

(६) नर्मदासुन्दरी-सन्धि

कर्त्ता— जिनप्रभ-शिष्य

समय— संवत १३२८

आदि— अज्ज वि जस्स पहावो वियलिय-पावो य ऊखलिय-पयाबो
त वद्धमाण— तित्थं नदउ भव— जलहि— वोहित्थं ॥१॥
पणमवि पणइदह वीर जिणदह चरण कमलु सिवलच्छि कुलु
सिरि-नमयासुन्दरि-गुण-जल-सुरसरि किंपि थुणिवि लिउ जंम-फलु ॥२॥
सिरि-वद्धमाणु पुरु अत्थि नयरु तहिं सपइ नरवइ धम्म-पवरु
तहिं वसइ सु-सावगु उसहसेणु अणुदिण जसु मणि जिणनाह वयणु ॥३॥

तब्भज्ज-वीरमइ-कुक्खि-जाय दो पवर पुत्त तह इक्क धूग्र।
सहदेव वीरदासाभिहाण रिसिदत्त पुत्ति गुण-गण पहाण ॥४॥

ग्रंत — तेरस-सय-ग्रडवीसे-वरिसे सिरि-जिणपहुप्पसाग्रेण
ग्रेसा सधी विहिया जिणिंद-वयणानुसारेण ॥७१॥
श्रीनर्मदासुन्दरी-महासती-संधि समाप्ता ॥

(७) ग्रवति-सुकमाल-सन्धि

(८) स्थूलिभद्र-सन्धि

विस्तार— कडव २, गाथा १३+८

ग्रादि— मढ विहार पायारह सोहिउ
वर मन्दिर पवर पुर ग्रमरनाहु पिक्खवि मोहिउ
इय ग्रेरिसु पाडलिय पुरु जबूदीव विक्खाउ
करइ रज्जु जिय-सत्तु तहि नदु महाबलु राउ ॥१॥

ग्रंत— कोवि णिय-तणु तविण सोसइ कुवि ग्ररन वण निवसग्रे
पिय कोवि किर सेवालु भक्खइ सोवि तुय ग्रासंकग्रे
जो वेस धरि चउ-मासि निवसइ सरस-भोयण-सित्तउ
तसु थूल्लभद्द व्व (ह) पायग्रे णमउं जिणि मयण तुहुँ जित्तउ

विशेष— ऊपर उल्लिखित समस्त रचनाग्रे पाटण के जैन-भण्डारों मे है। इनका विवरण बडौदा के गायकवाड ग्रोरियटल-सीरिज मे प्रकाशित पाटण भण्डारों के सूचीपत्र मे दिया गया है। ऊपर जो उद्धरण दिये गये है वे भी वही से लिये गये हैं। इस सूचीपत्र मे पृष्ठ ९८ पर ग्रनाथि सन्धि ग्रौर जीवानुशास्ति सन्धि नामक दो ग्रौर सन्धियो के उल्लेख हैं, परन्तु उनके साथ उद्धरण नही होने से यह नही बताया जा सकता कि वे नं० १ ग्रौर २ से भिन्न है या ग्रभिन्न।

(९) भावना-सन्धि

विस्तार— कडवक ६, गाथा ६२

कर्त्ता— जयदेव, शिवदेव-सूरि-शिष्य

ग्रादि— पणमवि गुण-सायर भुवण-दिवायर जिण चउबीस वि इक्कमणि
ग्रप्पं पडिबोहइ मोह निरोहइ कोइ भव्व भावय वसिणु ॥१॥

रे जीव निसुणउ चंचल सहाव मिलहेविणु सयल विवायभावु
नवमेय परिग्गेह विहव जालु संसारि इत्थ सहु इंदियालु ॥२॥

अंत— निम्मलगुण भूरिहिं सिवदेवसूरिहिं पढम सीसु जयदेव मुणि
किय भावण-संधी भावु सुबंधी णिसुणहु अन्नवि धरउ मणि ॥६२॥

इति श्रीभावाना-संधि समाप्ता

प्राप्तिस्थान— हमारे संग्रह मे सं० १४९३ के लिखित गुटके मे ।

विशेष— यह सन्धि जैनयुग, वर्ष ४, के पृष्ठ ३१४ पर प्रकाशित भी हो चुकी है । उसी पत्रिका के पृष्ठ ४६९ पर इसके सम्बन्ध मे श्रीयुत मधुसूदन मोदी का अेक लेख भी प्रकाशित हुआ है ।

(१०) शील-सन्धि

विस्तार— गाथा ३४

कर्त्ता— जयशिखर-सूरि-शिष्य

आदि— सिरि-नेमि–जिणदह पणय–सुरिंदह पय-पंकय समरेवि मणि
वम्मह–उरि–कीलह कय–सुह सीलह सीलह संथुव करिस हउं ॥१॥

अंत— इय सीलह संधी अइय सुबंधी जयसेहर–सूरि–सीस कय
भवियह निसुणेविणु हियइ धरेविणु सील–धम्मि उज्जम करहो । २॥

इति शील–संधि समाप्तः ॥

प्राप्तिस्थान— हमारे संग्रह मे उक्त सं० १४९३ के लिखित गुटके मे ।

(११) तप–सन्धि

कर्त्ता— सोमसुन्दर-सूरि-शिष्य–राजराज–सूरि-शिष्य

अंत— सिरि–सोमसुन्दर–गुरु–पुरन्दर पाय-पकय-हंसओ ।
सिरि-विसाल–राया–सूरि–राया–चंदगच्छवंसओ
पय नमीय सीसइं तासु सीसइ अेस संधी विनिम्मिआ
सिव सुक्ख कारण दुह निवारण तव उवअेसिइ वम्मिआ

लेखनकाल – स० १५०५

प्राप्ति स्थान— पाटण का भण्डार

(१२) उपदेश–संधि

विस्तार— गाथा १४

कर्त्ता— हेमसार

अंत— उवअंस सन्धि निरमल बधि हेमसार इम रिसि करए
जो पढइ पढावइ सुह मणि भावइ वसुहं सिद्धि वृद्धि लहए

(१३) चउरग-संधि

विस्तार— कडवक ५

विषय— चार शरणो का वर्णन

विशेष विवरण — पिछली तीन कृतियों का उल्लेख जैन गुर्जर कविओ, भाग १ मे पृष्ठ ७६ और ८३ पर हुआ है। नम्बर ११ और १२ की भाषा अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।

अपभ्रंशोत्तर राजस्थानी आदि भाषाओं के संधिकाव्य

अपभ्रंश की संधिकाव्यो की परंपरा को भाषा-कवियों ने चालू रखा। हमारी शोध से कोई ४० ऐसी रचनाओ का पता लगा है जिनकी नामावली आगे दी जाती है। ये चौदहवी से लेकर उन्नीसवी शताब्दी तक की है।

चौदहवी शताब्दी

१	आनन्द-संधि	गाथा ७५	विनयचन्द्र	...	हमारे संग्रह में
२	कशो गौतम संधि	गाथा ७०	...	...	,,

सोलहवी शताब्दी

३	मृगापुत्र संधि	—	कल्याणतिलक	१५५० लग०	हमारे संग्रह मे
४	नदन मणिहार संधि	...	चारुचंद्र	१५८७	,,
५	उदाह राजर्षि संधि	...	सयममूर्ति	१५९० लग०	जैन गुर्जर कविओ
६	गजसुकमाल संधि	गाथा ७०	,,	१५९०	,,
७	,,	...	मूलप्रभ	१५५३	,,
८	धना-संधि	गाथा ६५	कल्याणतिलक	१५६० लग०	हमारे संग्रह मे

सत्रहवी शताब्दी

९	सुखदुख विपाक संधि	...	धर्ममेरु	१६०४	जयपुर भण्डार
१०	सुबाहु-संधि	...	पुण्यसागर	१६०४	हमारे संग्रह मे
११	चित्रसंभूति संधि	गाथा १०९	गुणप्रभसूरि	१६(०)८	अश्विन वदि ९ गुरु जेसलमेर मे रचित

१२ अर्जुन माली संधि .... नयरंग १६२१ जेसलमेर भण्डार

१३ जिनपालित—

जिनरक्षित संधि ... कुशललाभ १६२१ बृहद् ज्ञानभंडार

१४ हरिकेशी संधि ... कनकसोम १६४० ,,

१५ संमति संधि गाथा १०६ गुणराज १६३० हमारे संग्रह मे

१६ गजसुकमाल संधि गाथा ३४ मूलावाचक १६२४ जैन गुर्जर कविश्रो

१७ चउसरण

प्रकीर्णक संधि गाथा ६१ चारित्रसिंह १६३१ जैसलमेर भण्डार

१८ भावना संधि ... जयसोम १६४६ हमारे संग्रह में

१९ अनाथी संधि ... विमल विनय १६४७ ,,

२० कयवन्ना संधि ... गुणविनय १६५१ बृहद् ज्ञान भंडार

२१ नंदिषेण संधि ... दानविनय १६६५ हमारे संग्रहमे

२२ मृगपुत्र संधि ... सुमतिकल्लोल १६६३ बृहद्ज्ञान भंडार

२३ आनंद संधि ... श्रीसार १६८४ जेसळमेर भंडार

२४ केशो गोयम संधि ... नयरग १७ वी शताब्दी हमारे संग्रह में

२५ नमि संधि गाथा ६६ विनय (समुद्र) ,, बृहद् ज्ञान भंडार

२६ महाशतक संधि ... धर्मप्रबोध ,, हमारे संग्रह मे

अठारहवी शताब्दी

२७ कंडरीक-

पुंडरीक संधि .... राजसार १७०३ जेसळमेर भंडार

२८ जयति संधि ... अभयसोम १७२१ भाद्र हमारे संग्रह मे

२९ भद्रनंद संधि ... राजलाभ १७२३ श्री पूजजीका संग्रह

३० प्रदेशी संधि ... कनकविलास १७२५ हमारे संग्रह मे

३१ हरिकेशी संधि — सुमतिरग १७२७ ...

३२ चित्रसंभूतिसंधि गाथा ३९ नयप्रमोद १७२९ बृहद् ज्ञान भंडार

३३ चित्रसंभूति संधि गाथा १०९ गुणप्रभसूरि १७२९ जेसळमेर भंडार

३४ इषुकार संधि ... खेमो १७४५ हमारे संग्रह मे

३५ अनाथी संधि ... ,, ,, ,,

३६ थावच्चा संधि ...	श्रीदेव	१७४६	बृहद् ज्ञानभंडार
३७ भरत संधि ...	वे० पद्मचंद्र	१८ वीं शताब्दी	जेसळमेर भडार
३८ मृगापुत्रसंधि ...	जिन हर्ष	,,	...
	उन्नीसवी शताब्दी		
३६ प्रदेशी संधि ...	जेमल	१८१७	हमारे संग्रह में
	अज्ञातकाल		
४० चन्दनबाला संधि ...	...	...	(जिनविजयजी के पत्र मे उल्लेख)
४१ जिनपालित-जिनरक्षित संधि ...	मुनिशील		बृहद् ज्ञानभडार
४२ सुबाहु संधि ...	मेघराज	...	लीबड़ी भंडार

बारहमासा संज्ञक रचनाएं

ऋतुओं के सौन्दर्य को देखकर और उन पर गीतों का सृजन आधुनिक साहित्य की देन नही अपितु वैदिक युग की प्राचीन परपरा है। वेदों मे प्रकृति का सुरम्य वर्णन मिलता है : अथर्ववेद में तो अनेकों स्थानों पर इस प्रकार का वर्णन मिलता है जिनमें प्रकृति का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। कई एक स्थानों पर तो छः ऋतुओं का भी उल्लेख हुआ है। कालान्तर मे इन्ही ऋतुओ मे अनेकों उत्सवो, त्यौहारो का समावेश करके इनकी मानता को अक्षुण्ण रखा गया। उन ऋतुओ और त्यौहारों पर गीत बने, काव्योंका सृजन हुआ।

वैसे तो प्रत्येक ऋतु दो माह की और वर्ष मे १२ महीने होते हैं। इन बारह महीनों मे प्रकृति बदलती रहती है। मानव और प्रकृति का अन्योन्याश्रय संम्बन्ध होने के कारण संयोग और वियोग मे उसे ये प्रकृति जन्य परिवर्तन किस प्रकार लगते है, इस भाव के अनेकों वर्णन साहित्य जगत मे षड ऋतु वर्णन और बारहमासा वर्णन के रूप मे विख्यात है। डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने अगविज्जा की भूमिका में लिखा है कि इस ग्रंथ का १२वा पटल महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें छः और बारह महीनों के क्रम से प्रकृति में होने वाले वृक्ष, वनस्पति, पुष्प, सस्य, ऋतु आदि के परिवर्तन गिनाए गये है। उदाहरण के लिए फाल्गुन महीने के सम्बन्ध में कहा है — फाल्गुन मास में नर-नारियों के मिथुन मिलकर उत्सव मनाते हैं और मुदित होते है। उस समय शीत हट जाता है और कुछ उष्णभाव आ जाता है। जिस समय आम्र मजरी निकलती और कोयल शब्द करती है उस समय गाने बजाने और हंसी खुशी के साथ स्त्री पुरुष आपानक प्रमोद में मस्त होकर नाचने लगते है, झूमने लगते हैं। स्त्री-पुरुषों के मिथुन मैथुन कथा प्रसंगों मे लगे हुए नाना भांति से अपना मंडन करते है उसका नाम फाल्गुन मास है। इन ४२ श्लोकों को अपने साहित्य का सबसे प्राचीन बारहमासा कहा जा सकता है (पृ.२४३-२४४) अग्रवाल जी ने अगविज्जा को चौथी शताब्दी की रचना माना है। इससे बारहमासा वर्णन की परपरा चौथी शताब्दी तक पहुँच जाती है।

श्रीयुत् नामवरसिंह के 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग" नामक ग्रन्थ के

पृष्ठ २०३ में बारहमासों की परपरा अपभ्रंश से नही मिलती, यह हिन्दी की अपनी विशेषता है, बतलाते हुए लिखा गया हैं :—

अपभ्रंश की कई प्रवृतिया वगला, मराठी, गुजराती आदि साहित्यों में विशेष स्फुट हुई और हिन्दी में नही हुई। इसी प्रकार हिन्दी काव्य मे भी अनेक बातें जो अपभ्रंश से अभी तक सम्बद्ध नही की जा सकी उदाहरण स्वरूप "बारहमासा"। अपभ्रंश मे संस्कृत आदि की तरह षट ऋतु वर्णन तो मिलता है, पर बारहमासा नही मिलता। यह हिन्दी की अपनी विशेषता है।

वास्तव में श्रीनामवरसिंहजी का कथन सही नही हैं। श्वेताम्बर अपभ्रंश साहित्य की ओर ध्यान न जाने के कारण ही उनको इस सम्वन्ध की जानकारी न हो सकी। अन्यथा आज से ३३ वर्ष पूर्व सन् १९२० मे सेन्ट्रल लाइब्रेरी वड़ौदा से प्रकाशित व स्व० मोहनलाल दलाल द्वारा सम्पादित प्राचीन "गुर्जर काव्य सग्रह" नामक ग्रथ के पृष्ठ ८ में 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' सज्ञक विनयचन्दसूरि की जो रचना प्रकाशित हुई है वह वास्तव मे नेमिनाथ बारहमासा ही है। चौपाई छद मे रचे गये जाने के कारण उसकी सज्ञा 'बारहमासा' न देकर 'चतुष्पदिका' रख दी गई है। इस रचना के प्रारभिक दो पद्य नीचे दिए जा रहे है, जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा :—

"सोहगसु दरु घडालायन्नु सुमरवि सामिउ सामलवन्नु
सखि पति राजल चडि उत्तरिय बारमास सुणि जिम वज्जरिय ॥१॥
नेमि कुमरु सुमरवि गिरनारी, सिद्धि राजल कन्न कुमारी ॥
आंकिणी ॥
श्रावणि सरवणि कडु य मेहु, गज्जइ विरहरि सिज्झई देहु।
विज्ज झबक्कई सकसि जेब, नेमिहि विणु सहि सहियइ केय ॥२॥

इसके प्ररभिक पद्य मे नेमिराज जी के बारहमास रचे जाने का उल्लेख है ही। दूसरे पद्य मे श्रावण मास मे वर्षा का वर्णन दिया गया है। इस रचना के कुल ४० पद्य हैं जिन में ३५ पद्यों तक मे आषाढ मास का वर्णन राजमती के विरह रूप मे पाया जाता है। सन् १९२६ में प्रकाशित स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई के जैन गुर्जर कविओं के प्रथम भाग मे इसका विवरण (आदि अंत) देते हुए इसे मुनि जिनविजय जी ने "जैन श्वेताम्बर" कॉनफ्रैंस हेरल्ड मे भी प्रकाशित किया था। इसके रचयिता विनयचन्द्र सूरि, रतनसिंह सूरि

के शिष्य थे। इनके रचित कल्पसूत्र की टीका का समय वि० सं० १३२५ है इसलिए इस रचना का समय भी १४ वी शताब्दी का प्रारभ ही समझना चाहिए।

इसके पश्चात सन् १९३७ में गायकवाड ओरियंटल सीरिज से प्रकाशित पट्टनस्थ प्राच्य जैन भाण्डागारीय ग्रंथ सूची का प्रथम भाग पटना के ताड़ पत्रीय प्रति परिचय के रूप मे प्रकाशित हुआ। पंडित लालचद भगवानदास गाधी ने इसको वर्तमान रूप दिया। इस ग्रंथ के पृष्ठ ६७० मे 'धर्म सूरि स्तुति' नामक अपभ्रंश रचना की प्रारंभिक नवगाथाएँ और अत की ४०-५० तक की १० गाथाए उद्धृत हैं। वास्तव मे इस रचना का नाम "बारह नावउ" है जो कि रचना के अत में लिखा मिलता है और कृति की पहली पंक्ति में भी जिसका निर्देश है। प० लालचन्द गाधी ने भी धर्म सूरि स्तुति के आगे ब्राकिट मे (बारह नावउ द्वादश मास अपभ्रंश) शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दिया है। अभी तक प्राप्त बारहमासों मे अपभ्रंश की यह रचना सबसे प्रसिद्ध है।

इस रचना मे जिन धर्म सूरि की स्तुति की गई है, वे बडे प्रभावक आचार्य थे। साकंभरि के चौहान अजयपाल और विग्रहराज इनके भक्त थे। विग्रहराज ने तो इनके उपदेश से जैन मन्दिर भी बनाया था। यह पाटन भडार मे उपर्युक्त धर्मसूरि स्तुति से पूर्व रविप्रभ सूरि रचित धर्मशेष सूरि स्तुनि प्रकाशित हुई है; उससे स्पष्ट है। अतएव इस बारहनावउ का रचनाकाल १३ वी शताब्दी का प्रारम्भ सुनिश्चित है और इससे बारहमासा सज्ञक भाषा काव्यो की परम्परा ८०० वर्ष पुरानी सिद्ध हो जाती है।

जैन कवियो के रचित शताधिक बारहमासे मेरे सग्रह में सुरक्षित है। इन बारहमासों का स्वर्गीय मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने बडी लगन के साथ सग्रह किया था। इनमे तीन चौथाई बारहमासे तो २२ वें तीर्थंकर नेमीनाथ और राजीमति से सम्बन्धित है। दो ऋषभ देव, एक पार्श्वनाथ, पांच स्थूलिभद्र, दो अन्य जैनाचार्य, एक बारह ब्रह्म, एक मूलिबाई से सम्बन्धित और कुछ सामान्य बारहमासो के वर्णन के रूप मे है। उनमे १२ महीने मे से किसी कवि ने चैत्र से किसी ने आषाढ, श्रावण मे किसी ने वैशाख मिगसर से तो किसी ने कार्तिक और किसी ने फाल्गुन से वर्णन प्रारम्भ किया है। अर्थात् भिन्न भिन्न कवियों ने अपनी रुचि के अनुसार किसी ने फाल्गुन से वर्णन प्रारम्भ कर दिया है। ये बारहमासे १३ गाथाओं से लगाकर ८० पद्यों तक के विस्तृत काव्य है।

जैन कवियो के बारहमासे १३ वी शताब्दी से प्रारम्भ होकर प्रत्येक शताब्दी के मिलते है। १३ वी १ चौदहवी के २ पन्द्रहवी के २ और सोलहवी के चार बारहमासे

मिल चुके है। १७ वी शताब्दी से इनकी संख्या १८ वीं और १९ वी शताब्दी तक बराबर बढ़ती जाती है। बीसवी शताब्दी में यह धारा मद अवश्य पड़ जाती है पर समाप्त नही होती।

१३ वी और १४ वी के प्रारम्भ के दो जैन बारहमासो का विवरण उपर दिया गया है। इसके पश्चात १४ वी के उत्तरार्द्ध का एक "नेमिनाथ बारहमासा रासो" अपूर्ण प्राप्त हुआ है जिसका रचयिता पल्हणु नामक कोई कवि है। इसके पौने सात पद्य ही मिले है। जिनमें श्रावण से पोष महीने तक का वर्णन आता है। इसका एक पद्य नीचे दिया जा रहा है:—

कासमीर मुख मडण देवी वाएसरि पाल्हणु पणमेवी।
पदमावतिय चक्केसरि नमिउ, अबिका देवी हडंबीनवउ।
चरिउ पयासउ नेमि जिण केरउ, कवितु गुण धम्म निवासो।
जिम राइमइ विओगु भओ, बारहमास पयासउ रासो॥

इस बारहमासे की प्रति १५ वी शताब्दी के प्रारम्भ की लिखी हुई होने से मैंने इसका रचना समय १४ वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है। संभव है वह उससे और भी पहले का हो।

१५ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के कवि हीरानद सूरि का "स्थूलिभद्र बारहमास" ३० पद्यों का है, जिसमे स्थूलिभद्र के विरह में कोश्या को जो अनुताप हुआ उसका वर्णन मार्गशीर्ष मास से किया गया है। तीसरे पद्य से २६ वे तक १२ महीनो का वर्णन है। प्रारंभिक दो पद्य इस प्रकार है:—

सरसति २ सामणि समरीईए। पामीय २ स गुरु पसाउकि।
गाइ २ सुसील सोहामीणए। थूलिभद्र २ मुनिवर राउकि।
सरसति सामणि समरीइए॥१॥

समरीयइ सरसति सगुरु आदि। थूलिभद्र वर्णीयै।
सिगडाल ला छिलदेव नन्दन पाडलीपुर जाणीयइ।
वरस बारै कोडि बारई, वेसिसु विलसी करी।
मास मागसिर संजम लीवउ कोस हीयडइ गहवरी॥२॥

इन्ही हीरानन्द सूरि का नेमिनाथ बारहमासा मिलता है।

१५ वी के अन्त या १६ वी के प्रारंभ का एक 'नेमिनाथफाग' के नाम से बारहमासा मिला है। जिसमे आषाढ से जेठ तक के विरह का वर्णन है। सं० १५३५ लिखित इसकी एक प्रति स्व० देसाई को मिली थी; जिससे नकल करके 'जैन युग' वर्ष ५ पृष्ठ ४७५ मे उन्होंने इसे प्रकाशित किया था। उसके अनुसार इसके रचयिता 'डूंगर' कवि है और पद्य संख्या २६ है। हमारे संग्रह में सं० १५४६ की लिखित इसी बारहमासा की प्रति है। इसमें पद्यों की संख्या २२ और रचयिता का नाम कान्ह दिया है। इसके तीन प्रारंभिक पद्य नीचे उद्धृत किए जाते है :—

अहे तोरणि वालभ प्रविण, यादव कुल कैरवचद।
अहे पशुव देखि रथ वालिउ, दह दसि हुंउहु विछन्द ।१।
अहे निसी अंधारि एकली, मधुरे वासैर मोर।
विरह सतावयि पापियो, बालभ हिई कठोर ॥२॥
अहे घरि आषाढ उनयु गौरि नयणे नेह।
गौढ गाजियुन पापिउ, छानौ वरसि न मेह ॥३॥

बारहमासा काव्य एक तरह से लोक-काव्य है। जनता मे इसका खूब प्रचार रहा। जैनेतर कवियों ने भी अनेक बारहमासे बनाए पर उनमें जैन विद्वानों की तरह लिखने और संरक्षण की परिपाटी न रहने के कारण उनकी रचनाएँ बहुत कम सुरक्षित रह सकी। प्राचीन बारहमासे तो जैनेतर कवियों के मिलते ही नहीं है। जैनेतर कवियों के राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी तीनों भाषाओं के साहित्य की मुझे जो कुछ जानकारी है उसके आधार पर मेरा विचार है कि १६ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही बारहमासे मिलते है। जहा तक हिन्दी साहित्य का प्रश्न है सभवतः जायसी के पहिले किसी के बारहमासों का वर्णन प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार राजस्थानी जैनेतर साहित्य में भी यथास्मरण "माधवानल कामकंदला" काव्य में सर्वप्रथम बारह महीनों का विरहवर्णन मिलता है। ये दोनों ग्रथ १६ वीं के उत्तरार्द्ध के है। स्वतन्त्र बारहमासों की उपलब्धि (जैनेतर कवियों के रचित) १७ वी शताब्दी से ही होती है। इन सब बारहमासों का प्रधान विषय नायिका द्वारा अपने पति के वियोग मे बारह महीनों मे जो विरह दुःख का अनुभव होता है, उसी का व्यक्तिकरण है। कुछ काव्य (संतों आदि के) इसके अपवाद मे भी रखे जा सकते है।

संतों के रचित बारहमासो के संबंध मे सत साहित्य के अध्ययनशील विद्वान परशुराम चतुर्वेदी ने अपने सत काव्य नामक ग्रंथ की भूमिका मे महत्वपूर्ण विवरण दिए हैं।

जैसा मैंने ऊपर कहा है, सोलहवी के उत्तरार्द्ध से हिन्दी मे बारहमासो का वर्णन मिलने लगता है और स्वतन्त्र रूप से बारमासा काव्य १७ वी से मिलते हैं। हिन्दी के प्राप्त बारहमासो मे से करीब २० अज्ञात बारहमासो का विवरण मैंने अपने राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के चतुर्थ भाग मे दिया है जो प्रकाशित हो चुका है। इनमें कुछ जैन कवियो के है, कुछ जैनेतर हिन्दू और कुछ मुसलमान कवियो के भी है। ज्ञात हिन्दी बारहमासो मे गग कवि का बारहमासा स्वतन्त्र हिन्दी बारहमासो मे सबसे प्राचीन है। गग कवि सम्राट अकबर का मान्य कवि था। इसका यह बारहमासा अनूप सस्कृत पुस्तकालय की कैथी लिपी मे कुतुबन की मृगावती की प्रति के अन्त मे लिखा मिला है। इसके पश्चात केशवदास, सुन्दर, रूप, बिहारी, वृन्द, मान आदि अनेक कवियों के बारहमासे मिलते है, पर वे २५-३० पद्यों से बडे नही है जबकि मुसलमान कवियो मे वुल्लासाह, हामद, काजी, महम्मद, पुरमही, अहमद, खैरासाह, मिनसत आदि के बारहमासो मे कुछ १२२ पद्यो तक के बडे बारहमासे भी मिले है। जैन कवियो के हिन्दी मे रचित बारहमासों मे १८ वी शताब्दी के सुकवि विनयचन्द्र का नेमिनाथ बारहमासा बहुत ही सुन्दर है इसे करीब २० वर्ष पूर्व हमने श्वेताम्बर जैन पत्र मे प्रकाशित किया था। इसमे भाषा का प्रवाह और प्राकृतिक दृश्यो का वर्णन बहुत ही सजीव बन पाया है। जिनहर्ष लक्ष्मीवर्द्धन केशवदास आदि जैन कवि भी १७ वी शती के है जिनके बारहमासे मिले है। जैन कवियों मे श्वेताम्बर कवियो की रचनाएँ राजस्थानी या गुजराती मे अधिक हैं इसलिये श्वेताम्बर कवियो के हिन्दी बारहमासे कम मिले है। दिगम्बर कवियो ने हिन्दी भाषा को अधिक अपनाया है क्योकि उन सप्रदाय का प्रचार केन्द्र हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र मे अधिक रहा है, जब कि श्वेताम्बर सप्रदाय का प्रचार राजस्थान और गुजरात मे अधिक है। दिगम्बर कवियों के हिन्दी बारहमासो मे से कुछ जिनवाणी सग्रह आदि मे प्रकाशित हो चुके है पर अभी उनका प्रयत्न पूर्वक सग्रह किया जाना आवश्यक है जिससे उनकी सख्या आदि का ठीक पता लग सके।

फागु संज्ञक काव्य

आचार्य हेमचन्द्र की देशीनाममाला मे वसंतोत्सव के लिये 'फग्गु' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, जो बोलचाल की भाषा मे फागु या फाग के नाम से प्रसिद्ध है। वसंतोत्सव सम्बन्धी ऋतु के अभिनव उल्लास को प्रकट करने वाले, विशिष्ट वर्णनात्मक, शब्द सौष्ठव, अर्थ–गाभीर्य, यमक और अनुप्रास आदि अलकारो से सुशोभित विशिष्ट गेय रचनाओं की संज्ञा "फागु" या "फाग" दी हुई मिलती है। वसंत ऋतु का प्रधान उत्सव फाल्गुन महीने मे होता है। उस समय नर-नारी मिलकर परस्पर में एक दूसरे पर अबीर गुलाल आदि डालते हैं और जल की पिचकारियों से क्रीडा करते है; उसे फाग खेलना कहते है। वसंत ऋतु के उल्लास का जिसमे कुछ वर्णन हो, या उन दिनों में जो रचना गाई जाती हो, उन रचनाओं की संज्ञा फागु दी गई है। इसकी परम्परा तो काफी प्राचीन है, पर स्वतन्त्र काव्यों के रूप मे अभी १४ वी शताब्दी के पूर्व की कोई रचना नही मिली। अद्यावधि उपलब्ध रचनाओं मे सबसे प्राचीन 'जिनचंदसूरि फागु' है इसकी एकमात्र प्रति जैसलमेर भण्डार से उपलब्ध हुई है, पर उसका मध्य भाग त्रुटित था। यह रचना २५ पद्यों की है, पर छठे से २० पद्य के अंश वाला पत्र नहीं मिला। जिन प्रबोधसूरि के पट्टधर जिनचद्रसूरि खरतगच्छ के आचार्य थे। उनका समय सं० १३४१ से से १३७६ तक का है। अत: यह रचना इसी बीच की है। इसमें आचार्य श्री का वर्णन विशेष नही है। वसंत वर्णन ही प्रधान है।

अरे दयड़उ तवियउ पेखिवि, न सहए रतिपति नाहु।
अरे बोलावइ वसंतु, जसव्वह रितुह राउ ॥
अरे आगए तुह बलि जीतओ, गोरड करउ बालंभु।
अरे इसइं वचनु निसुणेविणु, आययउ रलिय वसंतु ॥२॥
अरे पाडल वालउ वेउल, सेवत्री जाइ मुचकुंदु।
अरे कदु करणी राय चंपक, विहसिय केवड़ि बिंदु ॥

अरे कमलहिं कुमुदिहिं सोहिया, मानस जवलि तलाय।
अरे सीयल कोमला सुरहिया बाइं दक्खिणा वाय ॥३॥
ररे पुरि पुरि आंबुला मउरिया, कोइल हरखिय देह।
अरे तहिं हुए टहुकए बोलए, मयण हकेरिय खेह ॥
अरे इसइ वसतिहि हूय ए, माधुसके तियमात्र।
अरे अचेतन मे पाखिया, तिन्हु तणी जुगलिय बात्र ॥४॥

यह गेय रचना है, इसका उल्लेख अन्त के पद्य इस प्रकार किया है—

श्रीजिन चद सूरि फागिहिं, गायहिं जे अति भावि।
ते बाउल अरु पुरसला, विलसहिं सिव सुह सावि ॥२५॥

इसकी परवर्ती रचना स्थूलिभद्र फागु है। जिसके रचयिता खरतर गच्छीय जिनपद्म सूरि है। जिनका समय स० १३८९ से १४०० तक का है। इसके प्रारम्भ मे स्थूलिभद्र मुनि का वर्णन 'फागुबद्ध' मे किये जाने का उल्लेख होने से इन रचनाओ से विशिष्ट प्रकार की सूचना मिलती है। शब्द "फागुबद्ध" किसी छंद और रचना के विशेष प्रकार के लिये रूढ प्रतीत होता है। इससे ऐसी रचनाओ की प्राचीन परम्परा का आभास मिलता है। अर्थात् इस समय तक इस छद या शैली की अनेक रचनाए बन चुकी थी। कवि ने उनका अनुसरण किया है। इसमे वसत का वर्णन न होकर वर्षा का वर्णन बडा ही सुन्दर है। जिसका उद्धरण मैं अपने 'राजस्थानी साहित्य में वर्षा वर्णन' लेख में दे चुका हूँ। स्थूलभद्र जैनाचार्य थे। मुनि दीक्षा लेने के पूर्व कोशा वेश्या के यहा वे १२ वर्ष रह चुके थे। चतुर्मास करने के लिए वे गुरुजी से आज्ञा लेकर कोशा के भवन मे आते है और उसकी चित्रशाला मे ठहरते है। इसी समय मेघ बरसना शुरू होता है। इस प्रसंग से कवि ने वर्षा का वर्णन करके फिर कोशा के शृंगार करने का विस्तृत वर्णन किया है।

यह रचना गेय होने के साथ-साथ नृत्य के साथ खेली जाती थी। इसका वर्णन कवि ने अंत के पद्य मे कर दिया है—

खरतरगच्छी जिनपदमसूरि, किय फागु रमेवउ।
खेला नाचइं चैत्रमासि, रंगिहि गावेवउ ॥

इसी समय की अन्य रचना मलधारी गच्छीय राजशेखर सूरि रचित नेमिनाथ

फागु है। यह भी २७ पद्यों की है। और "फागुबंधि" शैली मे रचे जाने का उल्लेख है। इसमें २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ ने वसंत ऋतु आने पर कृष्ण की रानियों के साथ जल क्रीड़ा आदि की, उसका वर्णन है। अन्त मे 'फागुरमिज्जइ' शब्द से पाया जाता है। यह रचना भी नृत्य के साथ गाई जाती थी। उपर्युक्त तीनों रचनाएं १४-वी शताब्दी की है। काव्य की दृष्टि से भी बहुत सुन्दर है। अब १४ वी शताब्दी की रचनाओं पर प्रकाश डाला जाता है। इन रचनाओ की एक विशिष्टता विशेषरूप से उल्लेख योग्य है कि इनमें शब्दालकार के साथ यमक व अनुप्रास की छटा देखते ही बनती है—

अणहिलवाड़उ पाटण, पाटण नयर जे दाउ;
दीसइ जिहां श्रीअजिणहर, मणहर संपद दाउ

(जै ऐ. गु०. काव्यसंचय, देवरत्नसूरिफाग पृ. १५१)

अहे पंचवरस लगई लालीअ, पालीअ अति सुकुमार;
तातइ उच्छव बहु कीउ, सूंकीउ सुत नेसाल ॥१४॥

(उपर्युक्त 'हेमविमलसूरि फाग' पृ. १८७)

पहिलूं सरसति अरचीसूं रचीसूं वसत विलास
वीण धरइ करि दाहिण. वाहण हसलु जास ॥१॥
पहुतीय तिहुणी हिव रति वरति पहुंती वसत;
दहदिसि परसइ परिमल, निरमल थ्या नभ अंत ॥२॥

(प्रा० गू० काव्य 'वसंत विलास पृ० १५

वारिउ मोह मतगज, गजपति जग अवतंस,
जंसु जस त्रिभुवनि धवलिय, विमलीय यादव वंस।

(आत्मानंद जन्म शताब्दी स्मारक अक नेमीश्वरचरित फागबंध पृ०४७)

आविय मास वसंतक, संत करइ उत्साह;
मलयानिल वहि वायउ, आयउ काम गिदाह ॥१७॥

('फागुकाव्य' नर्तार्थ)

समरवि त्रिभुवन सामणि, कामणि सिरि सिणगार;
कवियण वयणिजा वरसइ, सरसइ अमिउ अपार ॥१॥

(जीरापल्ली पार्श्वनाथ फागु पृ० ६७)

यह शैली फागु सम्बन्धी सभी रचनाओ मे नही अपनाई गई है। इस शती की प्राथमिक स्थलभद्र फागु मे भी यह नही है और पिछली शती की अन्य फागो मे भी सर्वत्र इस शैली को नही अपनाया गया।

- १५ वी शताब्दी की फागु सज्ञक करीब १० रचनाए मिलती है। जो काव्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी शताब्दी मे अनुप्रास की प्रधानता प्रविष्ट हुई और माणक्य सुन्दर सूरि का ९१ पद्यो जितना बडा काव्य भी बना। १६ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे रत्नमण्डल गणि ने तो 'रंगसागर-नवरसनेमि फाग' तीन खण्डो मे ११५ पद्यो का बनाया। उपलब्ध फागु काव्यो मे यह सबसे बडी और विशिष्ट रचना है। इसमे सस्कृत श्लोक भी प्रचुरता से दिये है। "वसत विलास" काव्य तो गुजरात में बहुत प्रसिद्ध है। वह भी स० १५०० के लगभग की रचना है। १६ वी शताब्दी मे १५ फागु काव्य बने और १७ वी मे भी लगभग इतने ही। १८ वी के प्रारम्भ मे रचित राजहर्ष का नेमिनाथफाग फागु सज्ञक काव्यों मे अन्तिम रचना है। वैसे लघु-रचना के रूप मे महानंद रचित संजय फाग और नेमिफाग स० १८०५ के लगभग की है। पर ये एक तरह से होली गीत ही समझिए।

वसतोत्सव मे फागु काव्यो की रचना के बाद 'धमाल' काव्यो का भी निर्माण होने लगा। दिगंबर सम्प्रदाय मे अपभ्रंश मे 'ढमाल' पाई जाती है, जिसका समय १६ वी शताब्दी का होगा। पर श्वेताबर समाज मे धमाल सज्ञक रचनाए १७ वी के प्रारम्भ से ही अधिक मिलती हैं। १८ वी शताब्दी मे इनका भी अस्तकाल आ जाता है और इसी शताब्दी से होरी संज्ञक छोटे-छोटे गीत विशेष रूप से रचे जाने लगे। इस समय मे हिन्दी भाषा का प्रचार श्वेताबर जैन कवियो मे कुछ अधिक रूप से होने लगा। वैसे गेय पद तो १७ वी शताब्दी से अधिकतर हिन्दी मे ही रचे मिलते है। होरी सज्ञक गेय पदो की भाषा हिन्दी प्रधान है।

फागु और धमाल की छद रागिनी एव शैली मे अन्तर होगा, पर १७ वी शताब्दी मे जब धमाल सज्ञक रचनाओ का प्राचुर्य हुआ तो दोनो नाम एक ही रचना के लिये प्रयुक्त किये जाने लगे। जैसे— मालदेव के स्थूलभद्र धमाल को कही स्थूलभद्र फाग भी लिखा है।

"फाग" काव्य मूल रूप से गेय एव दृश्य काव्य थे। पर १५-१६ वी शताब्दी मे जब अधिक पद्यो वाले बडे काव्य विशिष्ट शैली मे लिखे जाने लगे तो जनसाधारण से

वे कुछ दूर पड़ने लगे । गेय रूप तो रहा होगा, पर उसके साथ नृत्य का सम्बन्ध था वह इस समय कम हो गया लगता है । धमाल काव्य छोटे और बड़े दोनों प्रकार के मिलते हैं । छोटे मे ५ और बड़े मे १०७ तक के पद्य वाले मिले है । होरी संज्ञक पद तो पाच-सात पद्यो के ही रचे गये है । जैन कवियो को समय–समय पर परिवर्तन करना पड़ा इसका प्रधान कारण उनका लोकरुचि के साथ अपनी रचनाओं का मेल बिठाना है । ज्यो ज्यों लोक रुचि बदलती गयी वे अपनी शैली बदलते गये । फिर भी उनकी विशिष्टता सब समय कायम रही । फिर भी वे लोक-रुचि के साथ बह नही गये । फागु काव्यों मे शृंगार रस का परिपाक नजर आता है पर उन्होने सीमा का उल्लघन नही किया । और पात्र ऐसे चुने कि तीर्थंकर, आचार्य आदि महापुरुषों से उन रचनाओं सम्बन्ध अविछिन्न रहे । जैन पूर्णतः ब्रह्मचारी होते है । अतः अधिक शृंगारिक वर्णन करना उनके आचार विरुद्ध भी है । उन्होने अश्लीलता की ओर जाने वाली लोक रुचि को धर्म, भक्ति एवं ज्ञान की ओर प्रवाहित किया । उसके लिए गुलाब, पिचकारी आदि सारे उपकरण वैराग्य एव ज्ञान के रूपक बन गये ।

सकल सजन सेली मिलिहो, खेलाण समकित ख्याल ।
ज्ञान सुगन गावे गुनीरो, खियाइस सरस खुस्याल ॥१॥
खेलो सत हसत वसत मेरो, अहो मेदा सजना-राग सुफाग रमंत रवै ॥२॥

ये रचनाएँ साधारण जैन जनता के लिए ही बनायी है । मुनियो ने तो बना कर उन्हें श्रावकों के हाथो मे सौप दी । श्रावको ने ही उन्हें गाया, बजाया, अभिनय किया । उसका रस एव लाभ साधारण जनता ने ही उठाया । अतः जनसाधारण के आनन्दोल्लास प्रकट कराने मे इनका बड़ा हाथ रहा है । इस दृष्टि से शिष्ट साहित्य होने पर भी इनकी गणना लोक साहित्य मे भी की जा सकती है । वह निर्माताओं के काम की उतनी नही । जनता के हृदय को आदोलित करना ही उनका उद्देश्य रहा है ।

फागु काव्य जैन रचनाओं की सूची

१४ वी शताब्दी

(१) जिनचन्द सूरि फागु गा० २५ — अभय जैन ग्रन्थालय
(२) स्थूलभद्र फागु गा० २७— जिनपद्म सूरि कर्त्ता — प्र० प्राचीन गु० काव्य संग्रह

१५ वी शताब्दी

* १ नेमिनाथ फागु गा० २५— राजशेखर सूरि सं० १४०५ लगभग प्र० सा० गु०
२ स्थूलभद्र फागु— हलराज स० १४०६
* ३ नेमिनाथ फागु— गा० १५ समधर सं० १४३० से पूर्व— अभय जैन ग्रन्थालय
* ४ जम्बुस्वामी फागु— गा० ३० सं० १४३० लगभग प्र० जैन० सा० प्र०
* ५ जीरावल्ला पार्श्वनाथ फागु गाथा ३० मेरुनन्दन सं० १४३२ पार्श्वनाथ।
६ नेमिनाथ फागु— जयसोम सूरि सं० १४०२ से पूर्व
७ नेमिनाथ फागु वद चरित गा० ९१ माणक्य सुंदर सूरि स० १४७८ प्र० आत्मानन्द शताब्दी स्मारक ग्रन्थ
८ स्थूलभद्र फागु— सोम सुन्दर सूरि सं० १४८१
९ फागु— सं० १४९५
१० देवरत्न सूरि फागु गा० ६५ सं० १४९९ प्र० जैन ऐ० रा० संचय
११ कीर्तिरत्न सूरि फागु ऐ० जै० का० स०
*१२ भरतेश्वर चक्रवर्ती फागु गा० २० स० १४९७ से पूर्व अभय जैन ग्रन्थालय
*१३ पुरषोत्तम पाँच पाण्डव फागु गा० २४ सं० १४९७ से पूर्व अभय जैन ग्रन्थालय
१४ वसन्त विलास— स्वतंत्र ग्रन्थ
*१५ नेमिनाथ फागु प्रथम— कृष्णर्षीय जयसिंह सूरि प्राचीन फागु संग्रह
*१६ नेमिनाथ फागु द्वितीय — " " " " "
१७ नेमिश्वर चरित फाग— प्राचीन फागु संग्रह

१६ वी शताब्दी

१ नेमीनाथ फागु— (सुरगा विधान) धनदेव गणि सं० १५०२
* २ नारि निरास फागु— (रंगसागर नव रस) रत्नमण्डल सं० १५१७ से पूर्व प्रकाशित
* ३ नेमी फागु— गा० ११५ रत्नमण्डन सं० १५१७ के पूर्व प्रकाशित
* ४ नेमिनाथ फागु— पद्म— सं० १५१९
५ नेमीनाथ फागु— गा० २१ डूंगर स० १५३५ से पूर्व
६ नेमीनाथ फागु— गा० २२ कान्ह सं० १५३५ से पूर्व
* ७ नेमीनाथ फागु गा० ५ समरा सं० १५४९ से पूर्व

८ हेमविमल सूरि फाग— हसधीर सं० १५५४

* ९ अमररत्न सूरि फाग— गा० ९ अभय जैन ग्रन्थालय

*१० हेमरत्नसूरि फाग— गा० ११ विनय चूल्हा अभय जैन ग्रन्थालय

११ पार्श्वनाथ फागु— गा० १५ समयध्वज १५५८ से पूर्व

१२ फलौधी पार्श्वनाथ फागु— गा० २५ खेमराज

*१३ वसन्त फागु गा० १६ गुणचन्द्र सूरि प्रकाशित

१४ वसन्त शृंगार फागु— अम्बालाल साह के पास

१५ गुरावली फागु— खेमहस प्र० ए० जै० का० स०

१६ नेमि जिन फागु— इन्द्रसौभाग्य

१७ रावण पार्श्वनाथ फागु गा० २१ हर्ष कुंजर अभय जैन संग्रहालय

*१८ सुरंगानिध नेमि फाग— धनदेव गणि कृत प्रकाशित

*१९ वसन्त विलास फागु प्रकाशित

*२० राणपुरमडन चतुर्मुख आदिनाथ फाग प्रकाशित

*२१ स्थूलिभद्र फाग— कमलशेखर प्रकाशित

२२ वाहण फाग गा० ११ स १५८७ लीवडी मे प्रतिलिपि अभय

१७ वी शताब्दी

१ नेमि फागु— गा० ४० जयवन्त सूरि

* २ स्थूलभद्र प्रेम विलास फागु— गा० २९ जयवन्त सूरि अभय जैन संग्रहालय

* ३ स्थूलभद्र फागु गा. १०७ मालदेव सं. १६१२ ,, ,, ,,

* ४ नेमि फागु— गा. ३० कनकसोम सं. १६३० रणथंभोर

५ नेमि फागु— गा. ४२ जयनिधान

६ नेमि फागु— लब्धिराज

७ नेमि फागु— विजयदेव

८ नेमिफागु वंध चरित गा ४२ गजसागर सूरि शिष्य १६४५ सं०

९ नेमि राजल फागु – महिमामेरु सं. १६७३ के लगभग

१० नेमिफागु— गुण विजय सं १६८१

११ बंभण वाद मडन— गुण विजय

१२ नेमि फागु— गा. १३ कनक कीर्ति

१३ हीर विजय सूरि फागु —

*१४ वासुपूज्य मनोरम फाग— कल्याण स. १६६६ धराद

१५ नेमी फागु गा. ३३— जिन समुद्र स. १६६७ साचोर

१६ विरह देशातुरी फागु— गा. ४० राजकवि

१७ नेमि वसन्त फागु— विद्याभूषण (दि०)

१८ आदिश्वर फागु— ज्ञान भूषण (दि०)

*१६ धर्ममूर्ति गुरु फाग— कमलशेखर

*२० मगलकलश फाग— वाचक कनक सोम सं. १६४६

*२१ जिन हसगुरू नवरग फाग— आगम माणिक्य

१८ वी शताब्दी

१ नेमि फागु— गा. २८ राजहर्ष

२ फागुणमास वर्णन गा. ६ सिद्धि विलास— सं. १७६३

* ३ अध्यात्म फाग— लक्ष्मीवल्लभ प्रकाशित

१६ वी शताब्दी

१ संजम फागु— महानद सं० १८०५

२ नेमि फागु— महानंद

जैनेतर फागु काव्य

* १ नारायण फागु— १४६५ के आस पास

* २ मोहिनी फागु— १६ वी शताब्दी

* ३ चुपई फागु— १६ वी शताब्दी

४ फागुकाव्य— चतुर्भुज— १६ वी शताब्दी

* ५ अज्ञात कवि कृत फागु— १६ वी शताब्दी

* ६ वाहणनू फाग— १६ वी शताब्दी

* ७ विरह देसाउरी फाग— १६ वी शताब्दी

* ८ भ्रमर गीता फाग— सं. १६२२

*चिन्हांकित रचनाएँ प्राचीन-फागु-संग्रह, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, वडोदरा की ओर से प्रकाशित ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुकी है।

धमाल संज्ञक रचनाएं

१६ वी शताब्दी

(१) ढमाल—दिगम्बर

(२) चेतन पुद्गल धमाल—बुचा (दि०) — अपभ्रंश

१७ वी शताब्दी

(१) नेमीनाथ धमाल गा० १६—धमाल

(२) आषाढ़ भूती धमाल—कनक सोम सं १६३८ — हमारे संग्रह में

(३) आर्द्रकुमार धमाल—कनक सोम सं १६४४ — हमारे संग्रह मे

(४) नेमि धमाल गा० २१—गुण विनय — हमारे संग्रह में

(५) नेमीनाथ धमाल मा० ४६—ज्ञान तिलक — हमारे संग्रह में

(६) नेमी धमाल गा० १७—जिन समुद्र सूरि

(७) नेमि धमाल गा० ५—जिन समुद्र सूरि

(८) नेमी राजमती धमाल गा० ३३—जिन समुद्र सूरि

(९) ऋषभ धमाल गा० ५—जिन समुद्र सूरि

(१०) ऋषभ धमाल गा०५—जिन समुद्र सूरि

१८ वीं शताब्दी

(१) वसन्त धमाल—धर्म वर्द्धन — हमारे संग्रह में

(२) गुरु धमाल गा० ११—नित्य विजय कर्ता

(३) जिन कुशल सूरि धमाल गा० ७—मान विजय

(४) रत्न जयगणि धमाल — हमारे संग्रह में

(मालदेव की स्थूलिभद्र धमाल फागु मे देखें)

धमाल को हिन्दी मे धमार लिखा मिलता है। अष्ट छाप के कवि नन्ददास गोविन्ददास आदि ने वसन्त एव होली के पदों की रचना धमार के नाम से ही की है जैन रचनाओं में होरी संज्ञक रचनाओं का प्रारम्भ जिन समुद्र सूरि के नैमी होरी (गा० ४) से होता है। १६ वी शताब्दी मे होरी संज्ञा वाले गीत प्रचुरता से रचे गये और २० वी मे भी यह क्रम जारी रहा। भीमसी माणक नामक बम्बई के जैन पुस्तक प्रकाशक ने होरी संज्ञक पदों का एक अच्छा संग्रह प्रकाशित किया है। वैसे स्तवन संग्रह रत्न सागर आदि

ग्रन्थों में भी होरी के गेय पद प्रकाशित ही है।

राजस्थान के जैनेतर कवियों ने भी धमाल और होरियाँ बनाइ पर वे लिखित रूप में नही मिली मौखिक रूप से उनका प्रचार परम्परा से चला आ रहा है। लोक साहित्य के अन्तर्गत उनका स्थान आता है।

अपभ्रंश

हमारे संग्रह में

हमारे संग्रह मे

हमारे संग्रह में

हमारे संग्रह में

हमारे संग्रह में

हमारे संग्रह में

...य के कवि नन्ददास
...म से ही की है जैन
नेमी होरी (गा० ४)
रचे गये और २० वी
पुस्तक प्रकाशक ने होरी
संग्रह रत्न सागर आदि

विवाहलो और मंगल काव्य

जीवन में आनद और उत्साह के अनेक प्रसंग आते है उनमे से विवाह का प्रसंग सबसे अधिक उल्लास का प्रसंग है। इसे बहुत ही मगल रूप माना गया है। विवाह के समय वर और बधु के नवजीवन का प्रारंभ व मिलन का सूत्रपात होने से उनके लिये तो यह आनंद का महान् अवसर होता ही है पर उनके अतिरिक्त उन दोनों के परिवार के सभी व्यक्तियों यावत् जाति ग्राम व नगर के लोगों को भी वह आनन्ददायक होता है। ऐसे प्रसंग मे सधवा स्त्रिया धवल-मगल के गीत इस होडा होड और उत्साह के साथ गाती हैं वह देखते ही बनता है। कई दिन पहिले से ही विवाह की तैयारिया होनी शुरू होती हैं और तभी से मगल गीतों का स्वर गुञ्जायमान होने लगता है। विवाह के अनन्तर भी वर-वधू सुसराल जाते है तो मानों एक नये परिवार के साथ आत्मीयता का संबन्ध जोडते है। वहां उन दोनों का बड़ा स्वागत सत्कार होता है। वर को ससुराल वाले कई दिनों तक अपने यहा रखकर कोड (आनन्द मनाया) करते हैं। इस प्रकार यह प्रसंग बहुत व्यक्तियों को बहुत दिनो तक आनंददायक प्रतीत होता है। अतएव कवियों ने भी ऐसे प्रसंग को जहा कही भी उन्हें अवसर मिला, बडे उल्लास के साथ वर्णन किया है।

प्राचीन आख्यानक काव्यों में चरितनायकों के विवाह के प्रसंग की चर्चा मिलती है। उसमें तत्कालीन वैवाहिक रीतिरिवाजों आदि के संबंध मे भी अच्छी जानकारी मिल जाती है। विशेषकर लोक भाषा के काव्यों मे विवाह प्रसंग को वर्णन करने वाले स्वतत्र काव्य भी शताधिक मिलेगे। गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओ के ऐसे विवाह वर्णन प्रधान[1] स्वतंत्र काव्यो के सम्बन्ध में इन पक्तियों के लेखक ने कुछ शोध की है। लेखक को यह विषय बहुत ही रसप्रद लगा। और लेखक के सग्रह मे ऐसे २५-३० काव्य जैन कवियों के रचित संगृहीत है जो कि १४ वी शताब्दी से २० वी शताब्दी तक के रचित हैं। इनकी भाषा राजस्थानी व गुजराती है। अन्य सग्रहालयो के ऐसे जैन कवियों के विवाहले काव्यों की सूची बनाने पर केवल जैन कवियों के रचित ही करीब ५० काव्य जानने मे

१, उदाहरणार्थ विमल प्रबन्ध के पूर्व खंड की गा ७४ से ११६ देखें।

आये हैं। हिन्दी गुजराती और राजस्थानी के जैनेतर विवाहले काव्यों को मिलाकर इनकी संख्या १०० से भी अधिक है। यह लेख के अन्त मे दी गई सूची से स्पष्ट है। इन सब काव्यो पर विस्तार से प्रकाश डालने पर तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही तैय्यार हो सकता है। यहां तो हिन्दी और राजस्थानी के काव्यों पर प्रकाश डाला जा रहा है। आशा है यह लेख अन्य विद्वानों को विशेष कार्य करने की प्रेरणा देगा।

विवाह वर्णन प्रधान काव्यों की संज्ञा

विवाह के प्रसंग का वर्णन करने वाले काव्यों की प्राचीन सज्ञा विवाह, विवाहलो विवाहला, यह सबसे प्राचीन है। दूमरी सज्ञा 'मंगल" है। इनमे से जैन-कवियों की एवं गुजराती जैनेतर कवियों की रचनाओ की संज्ञा तो सबसे अधिक विवाहला; विवाहलो ही पाई जाती है। मंगल संज्ञक काव्य वैसे तो बगला मे बहुत अधिक मिलते है पर वे विवाह वर्णन न होकर चरितकाव्य है। हिन्दी और राजस्थानी मे जैनेतर कवियों के रचित विवाह वर्णन प्रधान "मगल" सज्ञक काव्य २० के करीब पाए जाते है। इनकी रचना १७वी शताब्दी से प्रारभ होती है।

जैन कवियों की निराली सूझ और उनके रूपक विवाह काव्य

जैन कवियों के विवाहले काव्य मे एक बडी विशेपता उल्लेखनीय है कि इन काव्यो मे बाह्य एवं आभ्यान्तरिक याने द्रव्य और भाव दोनो तरह के विवाहो का वर्णन मिलता है। वर-वधु को पति-पत्नी का सम्बन्ध जोडने वाले विवाह का वर्णन तो सर्व-सामान्य है ही पर जैन कवियो ने कुछ ऐसे विवाहले काव्य भी बनाये है जिनमे वधु का स्थान स्त्री नही पर धार्मिक व्रतो के ग्रहण को स्त्री का रूपक देकर व्रतों का विवाह सबध सयमी व्यक्ति से (सयम श्री दीक्षाकुमारी) से कराया गया है। इसे जैन परिभाषा में भाव-विवाह की संज्ञा दे सकते है। जब कि वर वधु के विवाह को द्रव्यविवाह कहा जाता है। यह आभ्यान्तरिक गुणो से आत्मा का सबध रूप विवाह जैन कवियों की एक अनोखी सूझ है जो दूसरे किसी कवि ने भी कम ही अपनायी है।

इस रूपकविवाह की परपरा कही कही हिन्दी के सत कवियो की रचनाओ मे पाई जाती है, उदाहरणार्थ कबीर का निम्नोक्त पद लीजिये —

> दुलहिनी गावहु मगलाचार
>
> हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥टेक॥
>
> तनरत करि कै मनरत करि हुं पचतत बराती।

रामदेव मौरे पाहुने आये मैं जोबन में माती
शरीर सरोवर वेदी करि हूँ ब्रह्मवेदे उचार ।
रामदेव होगे भांवरि, लैहूँ, धनि धनि भाग हमार ।।
सुर तैतीसूं कौतिग आए मुनिवर सहस्त्र अठ्यासी ।
कहे कबीर हम नाहि चले हैं पुरिस एक अविनासी ।

अर्थात्

रामरूप आत्मा मेरे घर पाहुने आये है अतः दुलहिन और भरतार के मंगलाचार मंगलगीत गाओ । मेरा तन-मन उसी को अर्पित है । पंचतत्व बराती के रूप मे आये हैं । रामदेव मेरे पाहुने आ गये हैं । मैं यौवन से मदमस्त हूँ । शरीर सरोवर रूप वेदी करूंगी । ब्रह्मज्ञान की जागृतिरूप वेदोच्चार, मन्त्रपाठ के साथ आत्माराम के हाथ में भावरे लूंगी जैसे भाग्य धन्य हो जायेगा । ३३ कोटि देवता ८८ हजार मुनि साक्षीरूप होंगे । अविनाशी पुरुष मुझे कहां ले चले हैं । गुरु नानक भी कहते हैं—

गावहु गावहु वाणी विवेक विचार ।
हमारे घर आइया जगजीवन भरतारू ।
गुरू दुआरे हमारा वीआहु जि होआ जासहु मिलिआ तांजानिआ
तिहुं लोका माहि सबदु रामिआ है, आपु गइ आमनु मानिआ ।

विवाहलो काव्य की प्राचीन परम्परा

अपभ्रंश भाषा भारतीय अनेक उत्तर प्रान्तीय भाषाओं की जननी है । वह कई शताब्दियों तक स्वयं लोक भाषा रही है । पर ११वी १२वी शताब्दी से प्रान्तीय लोक-भाषाओं में बहुत अधिक परिवर्तन आ जाने से अपभ्रंश का स्थान साहित्यिक भाषा के रूप में सीमित हो गया । तेरहवीं शताब्दी से प्रान्तीय भाषाओं की स्वतन्त्र रचनायें मिलने लगती हैं पर वैसे १४ वी शताब्दी तक की रचनाओं मे अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट है । विवाहला-शब्द बारहमासादि संज्ञक परवर्ती विविध प्रकार के काव्यों की परम्परा अपभ्रंश साहित्य से जुडी हुई है । विवाहले काव्यों की उपलब्धि १४वी शताब्दी से होती है । उपलब्ध काव्यों में सब से प्राचीन विवाह वर्णन काव्य आगमिक गच्छीय जिन प्रभसूरि का "अन्तरग" विवाह है । यह छोटा सा आध्यात्मिक रूपक विवाह काव्य अपभ्रंश भाषा मे रचा गया है । आदि अंत के दो पद्य यहा उदधृत किये जाते हैं—

प्रारंभ पमाय गुण अणु पाटण तहि, अहे भवि योजिउ निरुवमु वसए।
चउविह संधु जात उत्रकीय, अहे, वाहण सहस सीलग ॥१५॥

अंत इणि परि परि गए जो अजगि, अहे, लहइ सो सिद्धि पुरि वासु।
मंगलिकु वीर जिणप्रभह अहे मंगलिकु चउवीह सघ ए॥

(अतरंग विवाह धवल, वसंत रागेण भणनीय)

इस काव्य के वसन्त राग मे गाये जाने का निर्देश है। इस की पुष्पिका मे विवाह और धवल दोनों सज्ञायें साथ ही दी है। विवाह प्रसंग मे धवल और मगल गीत गाये जाते है, इसलिये विवाहला और धवल दोनो सज्ञाओ को एक सदृश मानते हुए परवर्ती रचनाओ मे एक ही काव्य के लिये कही धवल और कही विवाहला सज्ञा लिखी मिलती है। परवर्ती रूपक विवाहलों के निर्माण का प्रेरणास्रोत भी ऐसे ही काव्य रहे हैं।

इसकी रचना सवत् १३०० के आसपास मे हुई है और इसकी ताडपत्रीय प्रति पाटण के जैन भडार मे सुरक्षित है। इस अतरंग विवाह मे प्रमाद गुणस्थान को पत्तन याने नगर भविक जीव को निरूपम वर, चतुर्विध सज्ञा को जान उत्र और शीलागो को वाहण का रूपक दिया गया है। अन्त के काल में मुक्ति से विवाह कराकर सिद्धिपुरि मे भविक जीव रूपी वर को पहुँचा दिया गया है, परवर्ती सहज सुन्दर रचित जम्बू अतरग विवाहला इसी की परम्परा का काव्य है। इसका परवर्ती रूपक काव्य स १३३१ मे सोममूर्ति रचित जिनेश्वर सूरी नामक खरतर गच्छ के आचार्य ने जैन मुनि की दीक्षा ग्रहण की उसका वर्णन करते हुए कवि ने दीक्षाकुमारी या सयमश्री को कन्या का रूपक देकर उसके साथ जिनेश्वर सूरि का विवाह याने मिलाप सम्बन्ध जोडा है। वैसे जैनमुनि प्रायः लघुवय मे ही दीक्षित हो जाते हैं इसलिये उनके द्रव्य विवाह के प्रसंग का वर्णन करने का अवसर काव्यो को नही मिलता क्योकि वे ब्रह्मचारी ही रहते हैं। इसलिये कवियो ने सयम श्री को कन्या का रूपक देकर भाव विवाह के वर्णन प्रसग की सृष्टि की है। बालक अवस्था मे जिनेश्वरसूरि मटकोट के भडारी नेमिचंद के पुत्र थे। उनका नाम अबडकुमार था। वह अपनी माता मे जैन मुनि की दीक्षा ग्रहण करने का अपना विचार प्रकट करते हुए कहते है—

परणिसु सयमसिरि वरनारि भाई, म इए मज्झु भणह पियारी।

अर्थात् मैं संयमश्री के साथ विवाह करना चाहता हूँ, मुझे वही प्यारी है। तदनन्तर उन की माता उन्हें सन्यास स्वीकार करने पर होने वाली कठिनाइयों का अनुभव कहती है, पर वे तो अपना निश्चय अटल रखते हुए कहते हैं—
"किंपी न भावए विणु सयमसिरी" अर्थात् मुझे सयमश्री (दीक्षा) ग्रहण के अतिरिक्त कुछ भी नही सुहाता।

परणे विणु दिक्खसिरि विविह भगहि सुख्ख माणिसु। अर्थात मैं दीक्षाश्री से विवाह कर विविध प्रकार के सुखों का अनुभव करूंगा। अत मे अंबडकुमार को वर वनकर खेडनगर मे जिनपाति सूरि के पास दीक्षा दिलाई जाती है, जिसका वर्णन कवि ने बड़ा ही सुन्दर किया है यथाः—

अभिनव ए चालिय जान उत्र, अबंड तणई वीवाहि।
आपुण ए धम्मह चक्कवइ, हुयउ जानह माहि ॥१६॥
आवहि आवहि रंग भरि, पंच महव्वयराय।
गायहि गायहि मधुर सिरि, अट्ठय पवयणमाय ॥१७॥
अठार सह सहरह वरह, जोजिम लहि सीलंग॥
चार्लाहि चार्लाहि खति मुह, वेगहि चंग तुरग ॥१८॥
कारइ कारइ नेमिचन्द्र, भंडारिउ उच्छाहु।
बाघइ बाघइ जान देखि, लखमणि हरषु अवाहु ॥१९॥
कुसलिहि खेमहि जानउत्र, पहुतिय खेड मज्झारि।
उछवु हूयउ अइ पवरो, नाचहि फरफर नारि ॥२०॥
जिणवइ सूरिणि मुणि पवरों, देसण अमिय रसेण।
कारिये जीमणवार तरि, जानह हरिस भरेण ॥२१॥
संति जणेसर वर भुयणि मांडिये नंदि सुवेहि।
वर सहि भविया दाण जलि, जिन गयणगणि मेह ॥२२॥
तहि अगिया रिव निलजए झाणा नल पजलंति।
तउ संवेगिहि निझियउ, हथलेवउ सुमुहुत्ति॥२३॥
इणि परि अबडु वर कुमरो परिणइ संजम नारि।
वाजइ नदीय तूर घणा, गूडिय घर घर वारि ॥२४॥

अर्थात — अंबडकुमार की अभिनव जान चली, जिसका मुखिया धर्मरूपी चक्रवर्ती था; पंच महाव्रत रूपी राजा बड़े हर्ष से उसमें सम्मलित हुए थे। अष्टप्रवचन माता रूपी सधवा स्त्रियों ने मधुर स्वर से गीत गाये। १८००० शीलाग रूपी रथ जोते गये। शांत रूपी तेज घोड़े रथों मे जोडे गये जो बडे वेग से चले। नेमिचन्द्र भण्डारी और उनकी पत्नी लक्ष्मणी को इस जान को देख के बडा हर्ष हुआ। कुशल क्षेम के साथ जान खेड नगर में पहुँची। वहाँ बहुत बडा उत्सव हुआ, स्त्रियाँ फरफर नृत्य कर रही थी। जिनपति सूरि जी के उपदेश रूपी अमृत भोजन से जान को जीमणवार दिया गया। शातिनाथ के जिनालय मे दीक्षा विवाह की वेदिका बनाई गई। खूब दान दिया गया। ध्यान रूपी अग्नि प्रज्वलित की गई। शुभ मुहुर्त मे संवेग रूपी हथलेवा जोड़ा गया इस प्रकार अबडकुमार ने संयम-रूपी नारि के साथ विवाह किया। खूब वाजित्र वजे व ध्वजा पताकाये फहराई।

जैनाचार्यों के दीक्षाप्रसग के वर्णनात्मक आठ विवाहले काव्य मिले है। उन सबमे इसी प्रकार सयम को कन्या का रूपक देकर उससे विवाह सम्पन्न कराया गया है। उपर्युक्त विवाहले के अनन्तर मेरुसुन्दर ने जिनोदय सूरि विवाहला बनाया जो एक सुन्दर काव्य है। इसमे विवाह कराने वाले जोशी का स्थान गुरुश्री को दिया गया है। ये दोनों काव्य जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय और हमारे सम्पादित "ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, मे प्रकाशित हो चुके हैं। इन दोनों का मध्यवर्ती ऐसा ही एक छोटा सा विवाहला मुनि सहजज्ञान रचित युगप्रवर जिनचन्द्र सूरि विवाहला है। जिमे मैंने जैन सत्य प्रकाश के वर्ष १७ अक १२ मे प्रकाशित किया है। ऐमे अन्य काव्यो में उदयनदिसूरि विवाहला, कीर्तिरत्नसूरि, गुणरत्नसूरि सुमतिसाधुसूरि और हेम विमल सूरि विवाहिले है। ये सभी जैनाचार्यों के सम्बन्ध मे हैं और इनका रचना समय १४ वी से १६ वीं शताब्दी है। इनमे से उदयनन्दिनसूरि विवाहले से तत्कालीन वैवाहिक रीति रिवाज पद्धति की अच्छी जानकारी मिलती है। उदयनन्दसूरि का बाल्यावस्था का नाम राउल था। उन्हे विवाह करने का कहने पर वे कहते हैं:—

संयमसिरि स्वयं वरि वहिये।
बीजी सवि कन्या परि हरिये।

अर्थात्— अन्य कन्याओ को छोड मैं संयमश्री से ही विवाह करूँगा। फिर

जोशी को बुलाया जाता है, वह विवाह का लग्न मुहूर्त देखता है। पिता के घर में उत्सव मनाना प्रारंभ होता है। चारों ओर कुंकुम पत्रिकाएं भेजी जाती हैं। परिवार के लोग इकट्ठे होते हैं। धवल मंगल और वधावणे गाने प्रारंभ होते हैं। मंडप रचा जाता है। बाजे बजते है। बन्दीजन विरुदावली बोलते है। लग्न आने पर वर को पाट पर बैठाकर स्नान कराया जाता है। क्षीरोदक पहनाया जाता है; स्त्रियें कटोरी में चन्दन भर कर उबटन करती है। बहिन आंखों को आंजती; वर को मुकुट आदि अलंकार पहनाये जाते है। बहिन आशीष देती है। वर घोडे पर सवार होता है, बहुत से लोग उसके साथ में चलते हैं। वेश्यायें नृत्य करती है वर के मस्तक पर छत्र और दोनों ओर चँवर ढुलाये जाते है। पौषधशाला में पहुंचने पर लग्न का समय आते ही गुरू भी उन्हें ओधा मुहपत्रि आदि साधु का वेश देते हैं और संयमश्री के साथ विवाह हो जाता है। जैन दीक्षाग्रहण से पूर्व आज भी संयम लेने वाले स्त्री पुरुष को तैयार किया जाता है मानो वह विवाहने ही चला है।

रूपक विवाहले काव्यों के अतिरिक्त जैन कवियों ने तीर्थंकरों व पुराने जैन महापुरुषों आदि के भी विवाहले काव्य बनाये हैं जैसे— आदिनाथ, अजितनाथ, शान्तिनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ व महावीर इन तीर्थंकरों के करीब ३० विवाहले काव्य मिलते हैं, जिनमें सबसे अधिक नेमिनाथ के विवाहले हैं। अन्य जैन महापुरुषों मे अद्रिकुमार, मगल कलश, शालिभद्र, झवयत्राव, जम्बुकुमार के विवाहले उल्लेखनीय है। ये सभी १५ वी से २० वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक में रचे गये हैं। संवत् १४१२ से प्रारम्भ होकर सं० १९२९ तक इनका रचनाकाल है, इनमें सबसे अधिक विवाहले १७ वी शताब्दी मे रचे गये हैं।

'धवल' नामान्तवाली पाँच बडी व छोटी २ अनेक रचनायें ज्ञात हुई हैं। जिनमे दो जिनपति सूरि धवल गीत १३ वी शताब्दी के अन्त की है, अवशेष १५ वीं व १७ वी के है। जैनेतर वैष्णव समाज में धवल-धोल का प्रचार हिन्दी में है। वास्तव मे गुजरात से ही इसको अपनाया गया है।

'मंगल' काव्यो का प्रारंभ बंगाल मे १६ वी से शुरू हो के १९ वी तक बहुत अधिक रहा। हिन्दी में मंगल काव्यों का प्रारम्भ १७ वी शताब्दी से होता है। नरहरि और नन्ददास के रुकमणी मंगल हिन्दी के सर्व प्रथम मंगलकाव्य है— फिर तुलसीदास के पार्वतीमंगल (सं० १६४३ मे) और जानकीमंगल रचे गये। १८ वी १९ वी मे यह

परम्परा ठीक से चालू रही, जो २० वी तक भी चली आई है। अन्तिम मगलकाव्य 'भवानी मगल' स० १९६४ मे रचित प्राप्त हुआ है।

भाषा मे प्रसिद्ध काव्य 'कृष्ण रूक्मणी वेलि' के अन्त के पत्रो मे रूक्मणी मंगल शब्द भी आता है पर वेलिओ छन्द मे रचे जाने के कारण यह वेलि संज्ञा से ही प्रसिद्ध हुआ। इसी समय के लोक कवि पद्मा तेली का रूक्मणी विवाहलो काव्य मिलता है जिसकी सबसे प्राचीन प्रति सं १६६६ की लिखित हमारे सग्रह मे है, मूलतः यह काव्य २५०,३०० श्लोको के प्रमाण का था पर लोकप्रिय होने से १६ वी शताब्दी मे इसमे स्थान-स्थान पर बहुत से नये पद्य जोड़कर सम्मिलित कर दिये और तभी इसकी संज्ञा मगल रखी गई। इसका अन्तिम रूप स० १६१६ मे मूडवे के शिवकरण रामरतन दरक ने सम्पादित किया। उन्होने ११ प्रतियो को एकत्र कर उनके पाठ मे अपनी ओर से कुछ बढाकर इसे तय्यार किया यह स्वयसिद्ध है, अतः मूल काव्य से बढते २ इसका परिमाण करीब १० गुना हो गया है। राजस्थान की जनता मे इसका बहुत प्रचार रहा है। गावो मे व नगर की साधारण जनता आज भी इसे बडी भक्ति भाव से सुनाती है। भोजन और गृहकार्य से निवृत होकर नरनारी इसे बड़े चाव स सुनते है व इसकी समाप्ति पर भेंट पूजा चढाई जाती है, गायको को भोजनादि से सात्कृत्य किया जाता है।

हिन्दी मे विवाह-वर्णन काव्यो की संज्ञा विवाह के साथ 'मगल' भी पायी जाती है। सर्वप्रथम इस संज्ञा का प्रयोग हम पृथ्वीराज रासो मे "विनय मगल" प्रस्ताव खण्ड मे पाते है। रासो के लघुतम सस्करण मे तो यह खण्ड नही है, पर अन्य संस्करणो मे है। वृहद् संस्करण के ४६ वे समय के रूप मे यह प्रकाशित भी हो चुका है। इसमे सयोगिता के जन्म व यौवन का वर्णन है। संयोगिता मदन–वृद्ध ब्राह्मणी के घर पर जाती थी और उसे वह "विनय मगल" पढाती थी। इसमे पति का गौरव, स्त्रियो की पति के प्रति अनन्य प्रेम-भावना और विनय की प्रशसा वर्णित है। पृथ्वीराज रासो के इस अश को यदि प्राचीन माना जाय तो हिन्दी मे 'मगल' संज्ञक यह सबसे पहली रचना कही जा सकती है। अन्यथा हरिहरनिवास द्विवेदी के कथनानुसार ग्वालियर के कवि विष्णुदास रचित 'रूकमणि मगल' सबसे पहला हिन्दी का स्वतन्त्र 'मगल' संज्ञक काव्य है। श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने विष्णुदास को डूगरेन्द्रसिंह तोमर के समकालीन बतलाते हुए, इसका रचना काल स० १४९२ के लगभग माना है। उन्होने जो उद्धरण दिये हैं वे राग गौरी, रागनी पूर्वी आदि गेय पदो के रूप मे है। इसकी एक नई सी प्रति

अनूप संस्कृति लायब्रेरी में है। अन्य शुद्ध व प्राचीन प्रति मिलने पर इसके सम्बन्ध में प्रकाश डाला जायगा।

इसकी परवर्ती रचनाओं में कबीर रचित 'आदि मगल' वगैरह के नाम मिलते है पर वे सदिग्ध है। निश्चित रचनाओं में कवि नरहरि रचित 'रूक्मणी मंगल" उल्लेखनीय है। इसके प्रारम्भ मे मगल गाने का उल्लेख है।

"प्रथमहि लीजै नाम परम सिधि पाइऐ।
गनपति गौरि, मनाइये मगल गाइए।।"

यह "रूक्मिणी मंगल" लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रकाशित डा सरयूप्रसाद अग्रवाल की थीसिस अकबरी दरबार के हिन्दी कवि" के पृष्ठ ३३४ से ३४४ मे प्रकाशित हो चुका है।

इसी समय के आस पास का अन्य मगल-काव्य अष्ट छाप के सप्रसिद्ध कवि नंददास का "रूक्मणि मंगल" है और वह भी नददास ग्रन्थावली आदि में प्रकाशित हो चुका है।

इसके बाद कविवर तुलसीदास के पार्वतीमगल व जानकीमगल का स्थान है। ये दोनों तुलसी ग्रन्थावली मे छप चुके हैं। इनमे विवाह मगल दोनों संज्ञाये प्रयुक्त हैं। 'पार्वती मगल' १६४ पद्यो का है। इसका रामनेरश त्रिपाठी द्वारा संपादित सार्थ सस्करण साहित्यरत्न भडार से और डा० माताप्रसाद गुप्त का सपादित संस्करण ९९ वें पद्यों के छायानुवाद सहित हिन्दी साहित्य सम्मेलन से सन् ३७ मे प्रकाशित हुआ। इसकी रचना स० १६४३ के फाल्गुन सुदी ५ गुरुवार को हुई। जानकी मंगल सबसे बड़ा है। इसकी पद्य संख्या २१६ है। इसके प्रारम्भ में 'सिव रघुवीर विवाह यथा मति गावै।" और अत मे "जे सिय राम मगल गावहिं" शब्दो द्वारा विवाह और मंगल दोनों संज्ञाऐं दी गई है। इसके प्रारंभ मे मंगल' नामक छद की सूचना है। कविवर नरहरि के रूक्मणी मगल मे भी छद" के बाद "मगल छंद का निर्देश है। इससे स्पष्ट है कि तब तक मगल नाम का छद भी रूढ हो गया था। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'छंदोनुशासन' मे धवल और मंगल छद का निदश किया है। उनके अनुसार मगलछंद के प्रथम द्वितीय चरण मे २० या २१ मात्रायें और तृतीय व चतुर्थ चरण मे २२ या २३ मात्रायें होती है। अन्य अन्य छन्दो मे होने पर उनका नाम उत्साह मगल, दोहक मंगल होता है। इस उल्लेख से मंगल काव्यों की परम्परा १२ वी शताब्दी से पहले की सिद्ध होती है।

इसके पश्चात् कई मगल काव्य रचे गये। पर उन सब मे रचना काव्य का उल्लेख न होने से उनका क्रमिक वर्णन करना सम्भव नही है। यहा कुछ प्रधान ग्रन्थो का उल्लेख दिया जाता है।

बीकानेर के श्री मोतीचन्द खजाची के संग्रह के एक गुटके मे 'मंगल' संज्ञक तीन काव्य है। इसमे एक सूर कृत "राधामगल" छोटासा काव्य है।* प्रसिद्ध कवि सूरदास से इसके रचयिता सूर सम्भवतः भिन्न होंगें।

दूसरी रचना तुलसी रचित "जानकी मगल" है पर यह प्रसिद्ध तुलसीदास जी से भिन्न कवि ही प्रतीत होते है। इस ग्रन्थ की पद्य सख्या ४९ है। आदि अत इस प्रकार है।

आदि:— प्रथम सुमरि गुरुदेव गणेश मनाइयैं।
शारद को सिरनाइ रामगुन गाइयैं।

अन्त— तुलसी सीताराम सहित उर आनियैं।
श्री राम भगति बिन जन्म अवरथा जानियैं।

दोहा— स्याम रंग शृंगार को, अरुण रग अनुराग।
पीताम्बर हरि प्रेम को, ओढै जो बढ भाग॥

इस गुटके की तीसरी रचना उदय कवि रचित "रूकमणी मगल" २३३ पद्यों की है। इसके आदि अन्त का परिचय "भारती" मे प्रकाशित उदय कवि की ६ अज्ञात रचनाएं नामक लेख में प्रकाशित हो चुका है।

अन्य उल्लेखनीय रचनाओं मे केसौराय रचित "रूकमणी मंगल" स० १७५० फाल्गुन बदी ११ को मथुरा मे रचा गया। केसौराय कायस्थ थे। इसमे दोहा, कवित्त, सवैया आदि छंद है। इसके ब्रजभाषा की बडी प्रौढ और भावपूर्ण रचना होने का उल्लेख डा० मोतीलाल मेनारिया ने अपने विवरण ग्रन्थ मे किया है। उनके अनुसार इनका "कैसवसागर" नामक फुटकर कविताओ का सकलन भी है। "दोनो ग्रथो की कविता बहुत प्रौढ मार्मिक एव काव्य लालित्य से ओत प्रोत है। इसके आधार पर केसौराम की गणना हिन्दी के मतिराम, पद्माकर आदि गणमान्य कवियो की श्रेणी मे आसानी से की जा सकती है।" इनके रूकमणी मगल की प्रति स० १७५२ मे लिखित १०४ पद्यो की

* यह काव्य भारतीय साहित्य (आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र) के वर्ष १ अंक १ में प्रकाशित हो चुका है।

सरस्वती भंडार उदयपुर मे है।

अनूप सस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर मे कृष्णदास रचित "कृष्ण रूकमणी रो विवाहलो" सदा कुँवर (?) रचित सीताराम जी को स्वयंवर, रूपदेवी रचित रूकमणी मंगल, नारायण रचित ब्याहखेल, गुलराय रचित विवाहमगल और जगनद रचित 'विवाहला' अथवा गोकलेश चरित्र की प्रतिया प्राप्त है। इनमे से गोकलेश विवाह का विवरण मेरे "राजस्थान मे हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज भाग ४ में दिया गया है। यह ऐतिहासिक काव्य है, जिसमे वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य गोकल जी के विवाह का विस्तृत वर्णन है।

कच्छ के ब्रजभाषा प्रेमी महाराव लखपत रचित शिव विवाह की प्रति राजस्थान पुरातत्व मन्दिर जयपुर के सग्रह मे मुझे प्राप्त हुई थी। इसकी पद्य संख्या ३७३ है और रचना स० १८०५ श्रावण सुदी ५ की है। इस रचना का परिचय मैं जीवन साहित्य में दे चुका हूं। कच्छ मे रचित दूसरा विवाह-वर्णन जैन कवि लक्ष्मीकुशल का रचित "पृथ्वीराज विवाह" भी उक्त जयपुर सग्रह से मिला है। इसमें कच्छ के राजकुमार पृथ्वीराज का विवाह प्रसग ५२ पद्यो मे वर्णित है। स० १८५१ के बैसाख बदी १० को इसकी रचना हुई।

सुप्रसिद्ध निरजनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिदास रचित "ब्याहलो" हरिपुरुष जी की वाणी मे छप चुका है। अन्य सत काव्यो के "रूपक विवाह" वर्णन भी प्राप्त हैं। इनमे से एक का उद्धरण श्री परशुराम चतुर्वेदी के सत काव्य ग्रन्थ के पृष्ठ ६१-६२ में देखा था। इनके सन्त परम्परा के पृष्ठ ५४७ मे संत जग जीवन सा० के शिष्य देवीदास रचित "विनोद मगल" और भक्ति-मंगल का उल्लेख है।

वैसे कुछ ग्रन्थ ऐसे भी है जिनका नामान्त पद विवाह या मगल नही है पर है वे विवाह वर्णन काव्य ही, जैसे कुंजदास रचित 'उषा चरित्र" मे उषा अनिरुद्ध के विवाह का ही वर्णन है। सं० १८३१ कार्तिक सुदी २ से (३ दिन मे) यह रचा गया है। खोज करने पर ऐसे विवाह वर्णन काव्य अनेक मिलेंगे। नामान्त पद चाहे चरित कथादि रखा गया हो पर वास्तव मे वे लक्षण की दृष्टि से मंगल काव्य ही हैं।

हस्तलिखित हिन्दी पुस्तको का संक्षिप्त विवरण भाग १ के पृष्ठ १४७ मे—

१. नवलसिंह (प्रधान) कृत रूकमणी मगल सं० १९२५

२. हीरालाल के रूकमणी मंगल स० १८३९

३. रामकृष्ण चौबे प्रथम और द्वितीय के दो रूकमणी मगल

४. ठाकुरदास रचित रूकमणी मगल स॰ १८३७ का विवरण सन् १९११ तक की रिपोर्टों मे होने की बात लिखी है। इसके बाद महिरचद, रामलाल के रूकमणि मगल का विवरण छपा है। इसके पश्चात गत ४ वर्षो मे और भी अनेक मगल काव्यो का विवरण खोज रिपोर्टों में लिया गया होगा। अन्य फुटकर उल्लेखो मे नागरीदास का "स्वामी हरिदास मंगल" बालकृष्ण का 'जानकी मंगल' चतुरदास का 'कृष्ण रूकमणी विवाह' हितवृंदावनदास का 'कृष्णगिरि पूजन मगल' नारायणदास कृत 'व्याहलो' के उल्लेख मिलते है। हिन्दी भाषा का सबसे अंतिम मगल काव्य चतुरभुजदास स्वामी रचित 'भवानी मगल' स॰ १९६४ मे रचा गया और वह प्रकाशित हो चुका है।

एक रुकमणी मगल उस्ताद इन्दरमन का सन् १९२१ मे प्रकाशित हमारे संग्रह मे है। हिंदी मारवाडी मिश्रित भाषा मे बालचद तैनाणी रचित "ऊखा अनिरुद्ध व्याहलो ख्याल" एव रूकमणी विवाह या मगल (गरीब पूर्णानन्द सिखवाल, मारवाड़, डेन्डा निवासी) के रचित, सन् १९२० के प्रकाशित हमारे स ग्रह मे हैं।

मगल काव्यो की सर्वाधिकता और लबी परपरा बगाली भाषा मे मिलती है। श्री हसकुमार तिवारी लिखित "बगला और उसका साहित्य" पुस्तक के अनुसार बंगला भाषा का सर्वप्रथम मगल-काव्य सन् १४८१ के लगभग मालाधरवासु ने 'कृष्ण विजय" लिखा, जिसकी प्रसिद्धि कृष्ण मंगल या गोविन्द मगल नाम से भी है। उन दिनों पाचामी मे देवता या उसके समान पुरुष के गुण वर्णनात्मक काव्यो की स ज्ञा 'विजय' या 'मगल' ही रखी जाती थी। पहले इस अर्थ मे इस शब्द का व्यवहार जयदेव ने किया था।

'मगल' सज्ञा वाले काव्यो मे— मनसा मगल 'चडी मगल' ही प्रधान है। कवि विजयगुप्त का मनसा मगल सन् १४८५ की रचना है। उनसे पूर्ववर्ती हरिदत्त के मनसा मंगल का एक ही पद मिला है। विजयगुप्त की रचना के सालभर बाद ही विप्रदास ने 'मनसा मगल' लिखा। मनसा सापो की देवी है और उसके मगल काव्यो की संख्या ६० से भी अधिक है। 'शीतला मगल 'सृष्टि मगल' आदि अन्य कई व्रत कथाओ से सम्बन्धित मंगल काव्य मिलते हैं। कवि जयानद और लोचनदास का चैतन्य मंगल भक्तश्रेष्ठ चैतन्य महाप्रभु की जीवनी से सम्बन्धित है। परवर्ती मनसा मगलकाव्यो मे वशीवादन, नारायणदेव, क्षीमानन्द, केतकादास आदि अनेक कवियो के काव्य प्राप्त है।

चडी मंगल पर लिखे गये काव्य १६ वी शताब्दी से मिलते है। सबसे प्रसिद्ध

कवि कंकण मुकुन्दराम चक्रवर्ती का 'चडी मगल' है। माधवाचार्य का चंडी मंगल सन् १५८० मे लिखा गया। १० वी १८ वी शताब्दी मे कृष्ण मंगल काव्य भी लिखे गये, जिनमे से दुखी श्यामदास का 'गोविन्द मंगल' द्विज हरिदास का 'मुकुन्द मंगल' आदि उल्लेखनीय है। "सृष्टि मंगल" 'राय मंगल' 'कालिका मंगल' 'अन्नदा मंगल' आदि काव्यों के सम्बन्ध मे हंसकुमार तिवारी की उक्त पुस्तक द्रष्टव्य है।

हिन्दी और राजस्थानी के 'मगल' संज्ञक काव्य विवाह वर्णन रूप हैं। पर बंगला मंगल काव्य व्रत कथाओ और चरित काव्यो के रूप मे हैं— यही इनका बड़ा अन्तर है।

इस प्रकार राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी और बंगला चार भाषाओ के विवाह और मगल काव्यो सम्बन्धी अपनी जानकारी प्रस्तुत लेख मे उपस्थित करने का प्रयत्न मैंने किया है। अभी इस सम्बन्ध मे स्वतन्त्र अन्वेषण की बहुत कुछ आवश्यकता है। यह प्रयास तो केवल दिशा सूचक मात्र है। अन्य प्रान्तीय भाषाओ में भी ऐसे काव्यों की परम्परा रही होगी, उसकी खोज भी होनी चाहिए। मुझे ज्ञात जैन राजस्थानी गुजराती व हिन्दी रचनाओ की सूची यहा दी जा रही है।

जैन कवियों के रचित विवाहलो काव्य सूची

अजित विवाहलाउ	गा. ३२	मेरुनन्दन	१५ वी शती
अढारह नाता विवाहलो		हीरानंदसूरि	१५ वी शती
आदि नाथ विवाहलो	गा. २४५	नीबो	१६७५ पूर्व
आदिनाथ विवाहलो	गा. १५	क्षेमराज—जैसलमेर भंडार	१६ वी शती
आदिनाथ विवाहलो		ऋषभ	१७ वी शती
आदिनाथ विवाहलो	गा. २५	रतनचन्द्र	१६वी शती
आर्द्रकुमार विवाहलउ	गा. ४६	सेवक	१६ वी शती
आर्द्रकुमार विवाहलउ	गा. २५	देपाल	१६ वी संभव है
आर्द्रकुमार विवाहलउ	गा. २४	अज्ञात	दोनो एक ही हों
उदयनन्दिसूरि विवाहलउ	गा. २७	अज्ञात जसविजयजी संग्रह	१६ वी शती
ऋषभदेव विवाह धवल		सेवक	१६ वी शती
ऋषभदेव विवाह धवल	गा. २७६	श्री देव	१६ वी शती
अंतरंग विवाह		जिन प्रभ सूरि	१४ वी प्रारंभ

कयवना विवाहलो	गा. १५	देपाल	१५ वी शती
कीर्तिरत्न सूरि विवाहलो	गा. ५४	कल्याणचन्द्र	१५ शती
कृष्णविवाहलउ		हरदास	१८ वी शती
गुणरत्नसूरि विवाहलो	गा. ५०	पद्म मन्दिर	१६ वी
चन्द्रभप्रभ विवाहलउ	गा. ४१	उदयवर्धन	१६८४
जबू अतरंग विवाहलो	गा. ६३	सहजसुन्दर	१५७२
जंबू स्वामी विवाहलो	गा. ३५	हीरानंद सूरि	सं. १४८५
जबू स्वामी विवाहलो	गा. १५	अज्ञात	
जिन चन्द्रसूरि विवाहलो	गा. ३५	सहजज्ञान	१४०६
जिनेश्वरसूरि विवाहलो	गा. ३३	सोममूर्ति	१३३१
जिनोदयसूरि विवाहलो	गा. ४४	मेरूनदन	१४३२
नेमिनाथ विवाहलो	गा. २२	जयसागर	१५०५
नेमिनाथ विवाहलो	गा. २९	देपाल	१६ वी शती
नेमिनाथ विवाहलो	गा. ७	धनप्रभ	१७ वी
नेमिनाथ विवाहलो		अज्ञात	
नेमिनाथ विवाहलो धवल ढाल	४४	ब्रह्मविनयदेवसूरि	सं १६१५
नेमिनाथ विवाहलो		महिमसुन्दर	स. १६६५
नेमिनाथ विवाहलो गरबाढाल	२२	वीरविजय	स. १८६०
नेमिनाथ विवाहलो		ऋषभ विजय	१८८६
नेमिनाथ विवाह		केवलचन्द्र	१९२९
पार्श्वनाथ विवाहलो	गा. ३६-६१	अज्ञात	१४१२ वे सु ११
पार्श्वनाथ विवाहलो		पेथो	१६ वी
पार्श्वनाथ विवाहलो	गा. ८	क्षेमराज-जैसलमेर भंडार	१६ वी शताब्दी
पार्श्वनाथ विवाहलो	ढाल ४६	ब्रह्मविनयदेव सूरि	सं. १६१७ सावण
पार्श्वनाथ विवाहलो		रंगविजय	स. १८६०
पार्श्वनाथ विवाहलो	गा. ६१	विजयरत्नसूरि-भंडार	१८ वी शताब्दी
पिथलगच्छ गुरु विवाहलो	गा. ५	अज्ञात	१६ वी
मगलकलश विवाहलउ	गा. १७०	धनराज	सं. १४९०

महावीर विवाहलउ		कीर्तिराज	१५ वीं शताब्दी
महावीर विवाहलउ	गा. ३२२	अज्ञात-अनंतनाथजी भंडार	१७ वीं
वीरचरित्र विवाहलो	ढाल ३७	ब्रह्मविनयदेव सूरि	१७ वी शताब्दी
शत्रुञ्जय चैत्यपरिपाटी			
विवाहलउ	गाथा २५	अज्ञात	१५ वी शताब्दी
शालिभद्र विवाहलो	गा. ४४	लक्ष्मण	१५६८ लिखित
शांतिनाथ विवाहलउ		हर्षधर्म	१६ वी शताब्दी
शातिनाथ विवाहलउ धवल		आनन्द प्रमोद	१५९१
शातिनाथ विवाहलउ		ब्रह्मविनयदेव सूरि	१७ वी
शातिनाथ विवाहलउ		सहजकीर्ति	१६७८
सुपार्श्व जिन विवाहलउ धवल	३४	ब्रह्मविनयदेव सूरि	सं.१६३२
हेम विमल सूरि विवाहलउ	गा. ७१		१६ वी शताब्दी
सुमति साधुसूरि विवाहलउ	गा. ८२	लावण्य समय	१६ वी शताब्दी
श्री महावीर विवाहलउ		हर्ष सायमसूरि गुरुशिष्य	ई. सं. १५१८
शातिनाथ विवाहलउ			
शाति विवाहलउ	गा. २७	तपोरत्न	१६ वीं

जैनेतर गजराती कवियों के रचित विवाह काव्य

अष्ट पटराणीनो विवाह	दयाराम	
ईश्वर विवाह	गोपीभान	
ईश्वर विवाह	देवीदास छोटा	
ईश्वर विवाह	मुरारि	
कानुडानो विवाह	अज्ञात	
कृष्ण विवाह	राधाबाई	
गोकुलनाथ जी नो विवाह	महीवदास	
गोपीकृष्ण विवाह	जीवनदास	
जानकी विवाह	तुलसीदास	१८५७
वलीनो विवाह	अज्ञात	
तुलसीनो विवाह	अज्ञात	

तुलसी विवाह	गिरधर	१८७१
तुलसी विवाह	प्रभाशकर	
तुलसी विवाह	प्रीतम	
नरसिंहना पुत्रनो विवाह	हरिदास	
नरसिंहना पुत्रनो विवाह	मोतीराम	१७२६
नरसिंहना पुत्रनो विवाह	प्रेमानद (बड़ा)	
नरसिंहना पुत्रनो विवाह	प्रेमानंद (छोटा)	
नागर विवाह	रणछोड	
नाग्न जिती विवाह	दयाराम	
महादेव विवाह	गोपाल भट्ट	
महादेव विवाह	वल्लभ	
महादेव विवाह	फूढ	
रघुनाथजीनो विवाह	गोविन्द	
राधा विवाह	रणछोड	
राधिका विवाह	राजे कवि	
राधिका विवाह	द्वारको	
रामविवाह	इच्छाराम	
रामविवाह	दिवाली बाई	
रामविवाह	प्रभूराम	
रुक्मणी विवाह	त्रिकमदास	
,,	कृष्णदास	
,,	गोविन्ददास	
,,	दयाराम	
,,	धनजी	
,,	मुक्तानंद	
,,	रघुनाथ	
विठ्ठलनाथजीनो विवाह	माधवदास	
विवाह खेल	वल्लभ	

विवाह खेल	नारायण	
विवाह खेल	उत्तमराम	
वेणीवत्सराज विवाहलउ	डामर	१६०७ लिखित प्रति
सामलसाहनो विवाह	नरसिंह	
सामलसाहनो विवाह	वल्लभ	
सामलसाहनो विवाह	ग्राधारभट्ट	
शिवश्रिवाह	नाकर	
शिवविवाह	छोटम	
शिवविवाह	रणछोड़	
शिवविवाह	जगजीवन	
शिवविवाह	मयाराम	
सत्यभामा त्रिवाह	दयाराम	
सीता विवाह	भालण	
सूरति विवाह	दयाराम	
सूरति बाईनो विवाह	घेलाभाई	
सूरति बाईनो विवाह	धीरो	
सूरति बाईनो विवाह	निर्भयराम	

हिन्दी के विवाह ग्रौर मंगल काव्य

कृष्ण रूक्मणी विवाह	चतुरदास	
कृष्ण मंगल ब्यावलो	कृष्णदास	
जानकी मंगल	तुलसीदास	१६४३
जानकी मंगल	बालकृष्ण	
पार्वती मंगल	तुलसीदास	१६४३
पृथ्वीराज विवाह पद ५२	लक्ष्मीकुराम	सं. १८५१
भवानी मंगल	चतुर्भुज स्वामी	सं. १९५६–६४
राधा मंगल	अज्ञात	
रूक्मणी मंगल	नरहरि	१७ शताब्दी
"	नन्ददास	"

रूक्मणी मंगल	केशोराम	१७५०
,,	हीरालाल	१८३९
,,	ठाकुरसीदास	
,,	रामकृष्ण चोबे	
,,	विष्णुदत्त	
,,	नवलसिंह कायस्थ	
,,	रूपदेवी	
,,	विष्णुदास	
रूक्मणी व्यावलो	हरिदास निरञ्जनी	
विवाह लीला (गोकुलेश विवाह)	जगनन्दन	१८ वीं
विवाह मंगल	गुनराय	
शिव व्याह पद्य ३७३	महाराउल लखपत	सं. १८०७
स्वामी हरिदास मंगल	नागरीदास	

राजस्थानी के जैनेतर विवाह मंगल काव्य

कृष्ण रूक्मणी वेलि	राठौड पृथ्वीराज	१६३७
रूक्मिणी विवाहलो मंगल	पद्मा तेली	१६६४ से पूर्व
महादेव पार्वती वेलि	किसनउ	
रूक्मिणी मंगल	उदो	

विवाहलो मंगल सज्ञक काव्यों की परपंरा बहुत ही व्यापक-विस्तृत रही है। नित्य अज्ञात ग्रन्थों की उपलब्धि होती रहती है। विजय धर्मसूरि ज्ञान मन्दिर आदि मे कुछ इस सूचि के अतिरिक्त प्राचीन विवाहलो मिले है। प्राप्त व अज्ञात काव्यों का सम्यक परिशीलन आवश्यक है।

धवल संज्ञक रचनाएं

भारतीय संगीत के विकास मे जैन समाज का महत्वपूर्ण योग रहा है उसका उचित मूल्यांकन अभी नहीं हो पाया है। जैन धर्म, भारत का बहुत प्राचीन धर्म है और प्रारम्भ से ही इसके प्रवर्त्तक जैन तीर्थकारों का यही लक्ष्य रहा है कि धर्म किसी जाति, वर्ण या देश विशेष की सम्पत्ति नही, वह तो प्राणी-मात्र के उत्थान का विषय है। जो वैदिक परिभाषा मे कहें तो, अभ्युदय और निश्रेयस का प्रधान कारण है। इसलिए धर्म-संदेश किसी भी सीमा में अवरुद्ध न रखा जाकार प्राणी-मात्र के लिए प्रचारित किया जाना चाहिये। यह दूसरी बात है कि व्यक्ति अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार ही इस संदेश को ग्रहण कर पाता है पर उसके श्रवण एवं ग्रहण का द्वार तो सभी के लिए खुला रहना चाहिये। तीर्थकारों के समवरण अर्थात धर्म-प्रवचन में देव-देवी नर-नारी ही नही, वरन् पशु-पक्षी भी सम्मिलित होते थे। तीर्थकारों की दिव्य-ध्वनि 'मालव कोशिक' राग मे गुंजायमान होती थी। इधर साधना का महान् तपोवल उधर संगतीमय वाणी का माधुर्य, सहज ही हजारों-लाखों प्राणियो के जीवन उत्थान मे जादू का सा असर करता था। जन जन को बोध मिल सके, इसलिए तीर्थंकर स्कध अलौकिक ज्ञान सम्पन्न होने पर भी जन-भाषा में ही उपदेश देते थे। गम्भीर से गम्भीर तत्वों का भी निरुपण उनके द्वारा सर्वजन सुलभ-सरल भाषा में किया जाता था। तीर्थंकरों के अनुयायी—जैनाचार्यो ने भी इस परम्परा को निरन्तर चालू रखा और इसी का परिणाम है कि भारत की प्रातीय भाषओं में, जिन जिन प्रांतों में जैन धर्म का प्रचार एवं प्रभाव रहा, प्रचुर जैन-साहित्य उपलब्ध होता है। लोक प्रचलित कहावतों, दृष्टान्त कथाओं और लोक कथाओं का भी जैनसाहित्य मे खूब उपयोग हुआ है।

सगीत का आकर्षण अद्भुत है। मानव ही नही, पशु पक्षी पेड़-पौधे भी उससे प्रभावित होते हैं इसलिए जन—साधारण मे धर्म प्रचार करने के लिए जैनाचार्यो ने लोक-सगीत को खूब अपनाया। मेरे नम्र मतानुसार संगीत-शास्त्रीय ग्रन्थों में जिन राग-रागि-नियो एवं देशी-सगीत की चर्चा है वह बहुत ही साधारण है। लोक सगीत को शास्त्रीय

परिभापाओं मे बाधना सम्भव नही। असंख्य स्वर-लहरियो एव नाद ध्वनियो को भला कहा तक कोई वर्गीकृत करे और उनका नामकरण करे। हजारों लोक-गीत और उनकी ध्वनिया जैन रचनाओ मे एव जैन साधु-साध्वियो एवं श्रावक-श्रविकाओ के कठो में सुरक्षित हैं। जैन रास, चौपाई आदि ग्रन्थो मे शास्त्रीय छन्दो मे से दोहा-चौपाई के अतिरिक्त बहुत ही कम छद व्यवहृत हुए है पर लोक गीतो की देशियो का उनमे भरपूर प्रयोग हुआ है। एक-एक रास मे दस-बीस-पचास और किसी किसी मे तो शताधिक लोक-गीतो की देशियो अर्थात् राग रागिनियो को स्थान मिला है। प्रत्येक ढाल के प्रारम्भ मे, वह ढाल जिस लोक-गीत की देशी रागिनी या तर्ज पर गाई जानी चाहिये उस लोक गीत की कुछ पक्तिया भी उद्धृत कर दी गई हैं। जिसमे हजारो लोक गीतो की देशियों का प्रचार जैन समाज मे हुआ एव अब तक है। ऐसी करीब ढाई हजार देशियो की एक सूची 'जैन गुर्जर कविओं भाग ३' के परिशिष्ट मे प्रकाशित हो चुकी है।

मध्यकाल के लोक-नृत्य एव नाट्य की भी जानकारी जैन-साहित्य से ही सर्वाधिक मिलती है। आठवी-नवी शताब्दी से रास, चच्चरी, धवल-मगल एव फागु के गाने एवं खेले जाने की परिपाटी जन साधारण में थी। इसको सबसे अधिक आदर जैन विद्वानों की रचनाओ मे दिया हुआ मिलता है। चौदहवी शताब्दी तक इस पद्धति का खूब प्रचार था। इसलिए छोटे छोटे रास, चच्चरी, फागु आदि सैकडो की संख्या में जैन विद्वानों के (जन-भाषा मे) रचे हुए मिलते है। वे जैन समाज मे विविध उत्सव प्रसगो मे, मन्दिरों मे गाये एव खेले जाते थे। उनके इस प्रकार के उपयोग होने का उल्लेख उन रचनाओ की अन्तिम पक्तियो मे कवियो ने स्वय किया है। दसवी शताब्दी के 'उपमिति भव प्रपच कथा' नामक विश्वसाहित्य के बेजोड रूपक ग्रन्थ मे तत्कालीन रास एवं गीत के उदाहरण प्राप्त हुए है। तेरहवी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक की अपभ्रंश और राजस्थानी रचनाए सैकडो की सख्या मे मिलती है जिनके सम्बन्ध मे हिन्दी, गुजराती एवं राजस्थानी इतिहास-ग्रन्थो मे कुछ चर्चा भी प्रकाशित हो चुकी है और मेरे भी कई निबन्ध प्रकाशित हो चुके है।

मागलिक प्रसगो मे धवल-मगल गीत गाये जाने का प्रचार शताब्दियो से चला आ रहा है। उत्तर-भारत के ऐसे धवल-मगल गीतो के सम्बन्ध मे मेरी जानकारी थी पर दक्षिण भारत, कर्नाटक आदि मे भी इनका इसी नाम से प्रचार रहा है, यह बिहार-थिएटर के क्रमाक १२ मे प्रकाशित आर्य सत्यनारायण के लेख से सर्व प्रथम विदित

हुआ। क्योंकि दक्षिण भारत की भाषाएं, उत्तर भारत के निवासियों के लिए दुरूह है इसलिए उधर के साहित्य, संगीत, कला की उतनी अधिक जानकारी हम लोगों को नहीं है। इसी तरह दक्षिण भारत के विद्वानों को उत्तर भारत के साहित्य, संगीत एवं कला के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी है। धार्मिक प्रसंगों को लेकर दोनों प्रांतों का आवागमन सम्बन्ध बराबर ही रहा है। उत्तर भारत के यात्री दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा करते रहते है और दक्षिण भारत के लोग उतर भारत यात्रा के लिए हजारो की संख्या में आते-जाते रहते है। इसी प्रकार व्यापार आदि अन्य प्रसंगो से भी पारस्परिक मिलन-जुलन एव सम्पर्क होता रहता है।

जैन धर्म का प्रचार उत्तर-दक्षिण दोनों प्रांतों मे हजारो वर्षों से समान रूप मे रहा है; इसलिए जैन विद्वानों के द्वारा साहित्यिक आदान–प्रदान भी खूब होता रहा। धवल-मंगल गीतो के प्रचार दोनों प्रातों मे होने का प्रधान कारण भी सम्भवतः जैन विद्वान ही रहे होंगे।

तेरहवी-चौदहवी शताब्दी में धवल गीतो का प्रचार उत्सवो, गुरुओं के आगमन प्रसंगों आदि मे किस तरह होता था, इसके सम्बन्ध मे कुछ उल्लेख 'खरतर गच्छ वृहद् गुर्वावलि' में प्राप्त हैं उन्हे उद्धृत किया जा रहा है। संवत् १२३९ मे खरतर गच्छ के विद्वान् जिनपति सूरिजी का एक रोचक शास्त्रार्थ अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान की सभा अजमेर में हुआ था। विजय के अनन्तर जिनपति सूरिजी राज सभा से अपनी पौषध शाला या उपाश्रय मे वापस पधारे, उस समय का वर्णन करते हुए गुर्वावलि मे लिखा गया है—

"तदनन्तरं ततः स्थानादुत्थाय सहस्त्र सख्य तुरंगमाधि–रुढराज पुत्रानुगम्यमान मण्डलेश्वर कइमास प्रमुख राज प्रधानैः सह प्रीतिवार्तां कुर्वन्तः, स्वकर्णाभ्यामात्मीय कीर्तिं शृण्वन्तः, प्रभूतलोकदीय मानशिषो गृह्णन्त, श्री पृथ्वीराजसत्के मेघाडम्बरनाम्नि छत्रे प्रभावनायै मस्तकोपरि ध्रियमाणे, पुरमध्ये स्थाने–स्थाने रगंभरेण प्रेक्षणीयके निरापेधमाने, दाने च व्याप्रियमाणेः चंच्चर्या दीयमानाया धवलेषु गीयमानेषु, श्री गौतमस्वामी गणधर प्रमुख पूर्वज सत्व गुणगणप्रशसन पूर्वक विरुदावलीर्ददन्यु भट्टलोकेषु श्री पृथ्वीराज सभायां श्री जिन-पतिसूरिभिर्जितः पंडित पद्मप्रभ इत्याद्यप्रतिवद्हासु तत्काल निष्पन्नासु चतुष्पदीषु पठ्य-मानासु, निः स्वानैः सह पंचशब्देषु, राजादेशान्नगरे शोभाया शोभिते श्री अजयमेरो चैत्यपरिपाटि पूर्वक पौषधशालायां समागताः श्री पूज्याः।

इसी प्रकार इनके गुरु जिनचन्द्रसूरि जी संवत् १२२३ में दिल्ली मे पधारे थे तब राजा मदनपाल एव श्रावकों ने आपका प्रवेश-उत्सव मनाया था। उस उत्सव का वर्णन करते हुए गुर्वावलि में लिखा है :—

"श्री मदनपाल महाराजोपरोधाद् श्री पूज्याः श्री दिल्ली प्रति प्रस्थिताः। वाद्यमानेसु चतुर्विंशतिषु निस्वानुयुगलीषु, विरदावलीं पठत्सु भट्टलोकेषु, धवलेपु दीयमानेषु, वसन्तादिमांगलिक्यरागेण गायत्सु गायनेपु, नृत्यमानासु नर्तकीषु, ऊर्ध्वीकृतेएवालम्बसहस्त्रेषु, मस्तकोपरि ध्रियमाण छत्रैलक्ष संख्य लोकैरनुगम्यमाने' श्री मदनपाल महाराज दत्तहस्तैः श्री जिनचन्द्रसूरि भी, राजदेशात्कृत तलिकातोरणादि महा शोभे श्री योगिनीपुरे प्रवेशः कतः।'

जिन प्रवोध सूरि के संवत् १३४१ में जालोर आने एवं जिनचन्द्रसूरि के पट्ट-स्थापना के समय मे भी "गीयमानेपु प्रवरगीतेषु, दीयमानेपु धवलेपु नृत्य मानासु प्रवर पुरांगनासु" इन शब्दो में धवल दिये जाने का उल्लेख है।

तदनन्तर सं० १३७५ मे जिनकुशलसूरि जी की संघ यात्रा के वर्णन मे सघवा स्त्रियो के धवल-मंगल गाने और चच्चरी दिये जाने का उल्लेख इस प्रकार दिया गया है— "अविधवसुधवाभिः सुश्राविकाभिर्गीयमानेषु धवल-मंगलेषु; दीयमानाषु चच्चरिषु।"

संवत् १३८४ और १३६८ मे सिन्धप्रात मे जिनकुशलसूरि जी का पदार्पण हुआ। उनके प्रवेशोत्सव के समय नाटक करने, ताल रास देने और गीत गाये जाने का उल्लेख इस प्रकार है— नानाविधेषु, नाटकेषु, दीयमानेषु नराविधवसुधवाभिर्नारी भिस्त तालरासकेषु, हा हा हू हू समानानेकगायना वलीभि गियमानेषु गीतेषु ' गीयमानेस्व विधवसुधवा भिर्नारीभिः सकला मागलिक्य माला ज्वाला सलिले धवलषुः मंगलेषु।'

संवत् १३९० में जिनकुशलसूरि के पट्ट पर जिनपद्मसूरिजी की स्थापना का महोत्सव हुआ उसमे भी ताल रास दिये और धवल मंगल गाये गये। यथा 'स्थाने स्थाने दीयमानेषु तालारासकेषु गीयमानेष्व-विवधसुधवनारिभिः धवल मंगलेषु।

उपरोक्त उद्धरणो से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि तेरहवी चौदहवी शताब्दी में उत्सवों एवं मागलिक प्रसंगों के समय स्त्रियो के द्वारा धवल-मगल गीत गाये जाने का राजस्थान, गुजरात एव सिंध तक मे आम रिवाज था और वह आज भी कई अंशो में प्रचलित है। विवाह आदि के समय धवल—मगल गीत आज भी गाये जाते हैं। यद्यपि

उनके स्वरूप में परिवर्तन हो गया है।

"धवल" वास्तव में उत्साह को प्रगट करने वाला एक मांगलिक गीत विशेष है। पर वह कई रागों में गाया जाता और विविध छन्दो मे बनाया जाता था, इसकी सूचना हमे सगीत ग्रन्थो के अतिरिक्त छन्द ग्रन्थो एव प्राप्त रचनाओं से भली प्रकार मिल जाती है। बारहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य के छन्दोऽनुशासन मे धवल के कई भेद विवेचित है। आठ चरणो वाले, छः चरणों वाले और चार चरणों वाले ये तीन भेद तो छन्दों की दृष्टि से हैं। इनके नाम श्री धवल, यशोधवल, कीर्ति धवल, गुण धवल, भ्रमर धवल, अमर धवल, उत्साह धवल, दोधक धवल आदि थे। यथा— धवलमृष्ट षट् चतुष्पात् ।

अष्टपात्षट्पाच्चतुष्पाच्च धवल नाम छन्दः।
धवल निहेण सुपुरिसो वण्णिज्जइ जेंण तेण सो धवलो।
धवलो वि होइ तिविहो अट्ठपओ छप्पओ चउप्पाओ ॥
धवलानि च सातवाहनोक्तिषु द्रष्टव्यानि। दिग्मात्र तूदाहरिष्यते ॥
तत्राष्टांह्रवोजे चिदौ समे चौ श्री धवलम् ॥
तत्र धवलेषु मध्येऽष्टांह्वौ धवले विषमेषु पादेषु चत्रय द्विमात्रश्चैकः, समेषु पादेषु चद्वय यत्र तच्छी धवलम्।
वसन्तलेखेत्यन्ये। यथा—
खीरसमुद्दिण लवणजलहि, कुवलय कुमुईहिं।
कालिंदी सुरसिंधुजलिण, महुमहण हरिण ॥
कइलासिण सरिसउ हू किरि, सो अंजणगिरि।
इह तुह जस सिरिधवलिउ पहु, किं पंडुरु न हु ॥
आद्यं तृतीये चिदौ द्वितीये तुर्ये चिः शेषे।
त्वोजे चातौ समे चादौ चिर्वा यशोधवलम् ॥

अष्टांह्वौ धवले आद्यतृतीययोः पादयेश्चगणत्रय द्विमात्रश्च। द्वितीय चतुर्थ योश्चगणत्रयम्। शेषेषु चतुर्ष पादेष्वोजयो· पञ्चम सप्तमयोर्द्वौ चगणौ त्रिमात्रश्चैकः समयोः षष्ठाष्टमयोः चगणद्वयं द्विमात्रश्चैकः, मतान्तेर चगणत्रयं वां, यत्र तद्यशोधवलम। यथा—

जे तुह पिच्छहि वयणकमलु, ससहरमंडल निम्मलु।

जे वि हु पालहि मिच्चकम्मु, थुर्णाहि जि निरुवमु विक्कमु ॥
षडह्नवाद्ये तुर्ये षादौ द्वितीये पञ्चमे
चौ शेषे षाभ्यां चः पो वा कीर्तिधवलम् ॥

तत्र षडंह्नौ धवले प्रथमे चतुर्थे च पादे द्वौपएमात्रावेको द्विमात्रः। द्वितीये पञ्चमे च पादे द्वौ चतुर्मात्रौ। शेषे तृतीय षष्ठे च पगणद्वयात्परश्चतुर्मात्रः पञ्चमात्रो वा चेत् तदा कीर्ति धवलम्। यथा—

उक्करडा खवलउ गज्जउ, चिरु जुज्झुमणु,
उग्गामउ सिरु कसरु म लज्जउ।
थक्क महब्भर तुहुँ कड्ढहि, अन्नु न तिहुअणि,
कित्तिधवल विसाउ तुह वट्टइ ॥

चतुरंह्नावोजे षश्चौ समे पचचाद्स्तो वा गुणधवलम्। तत्र चतुरंह्नौ धवले विषमपादयोरेकः षएमात्रौ समयोः षचचेग्य परो द्विमात्र स्त्रिमात्रो वा चेत् तदा गुणधवलम्। यथा—

कद्दमभरगा मग्गुलया, वहु पिहुला दुत्तरजलुल्लया।
तिम्व भरु वहसुगुणधवलया, जिम्व केम्वइ न हसति पिसुणया ॥
षचताः षचौ भ्रमरः।

ओजपादयो षएमात्र चुतुर्मात्रत्रिमात्राः समयो, षएमात्र चतुर्मात्रौ चेत्तदा भ्रमरो धवलम्। यथा—

किति तहारि वण्णविणु, कइ अन्नु न वण्णहि।
मालइ माणिवि किं भमर, धत्तुरइ लग्गहि ॥
षचताः षचचा भ्रमरम्।

ओजे षण्मात्र चतुर्मात्रत्रिमात्राः समे षण्मात्र एकचितुर्मात्रौ द्वौ चेत्तदा भ्रमरम् धवलम्।

यथा— इवहु तुहुं गुणि अहिअउ, सग्गु वि पहु मइं वाहिअउ।
भमरविलासिणिगीअरा, तुह पर कित्ति निसामिअरा ॥
आद्ययोः षचौ अन्त्ययोश्चु: सर्वत्रान्ते तो दो वामगलम्।

आद्ययोः प्रथमद्वितीययोः पादयोः प्रत्येक पंगणश्चगणत्रयं च, अन्त्ययोस्तृतीय

चतुर्थयोः प्रत्येकं चगणपंचकं सर्वपादेषु चान्ते त्रिमात्रो द्विमात्रो वा चेतदा मंगलार्थ संवद्धत्वात् मंगलम् ।

यथा— तुह असिलट्ठिहिं नरवइ मंगलकारणि ।

वित्थारिअ निम्मलयर सत्थिअघोरणि ।।

सगररगि विवाहमहूसवि जयलच्छिहिं ।

दारिअमयगलकुंभत्थल मोत्ति अगुच्छिहिं ।।

उत्साहादिना येनैव धवलमंगलभाषागाने तन्नामाद्ये धवल मंगले ।

उत्साहादीत्यादिग्रहणात् प्रकान्तानां रासावलयादीनां,

पूर्वोक्तानां हेलादीनां, वक्ष्यमाणानां दोहकादीनां च ग्रहणम् । तन्नामाद्ये इति उत्साहादिनामपूर्वके ।

यथा— उत्साहधवलम् वदनधवलम् दोहकधवलम् चेति ।

एवं मगलेऽपि उत्साह मंगलादि वाच्यम् ।

यदाहु—

उत्साह हेलावदनाडिला धैर,

यद गीयते मंगलवाचि किंचित ।

तद्रुपकाणामभिधानपूर्वं,

छन्दोविदो मंगल मामनन्ति ।।

तैरेव धवलव्याजात पुरुषः स्तूयते तदा ।

तद्वदेव तदानेको धवलोऽप्यभिधीयते ।।

उपरोक्त छंदोनुशासन सिंघी जैनापिमाना से स्वयोज्ञ वृत्ति सहित प्रकाशित हो चुका है। छदो के सम्बन्ध मे यह बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है । अपभ्रंश भाषा के अनेक उद्धरण ग्रंथ के महत्व को और भी बढ़ा देते हैं ।

चौदहवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध छन्द ग्रन्थ 'प्राकृत पिंगलम्' मे छप्पय छन्द के ७१ भेदों मे एक नाम धवल भी मिलता है । "धवल मणाउ धुअ कणाउ" इसी ग्रन्थ के वर्ण वृत मे धवलक नामक एक छन्द का भी लक्षण और उदाहरण दिया गया है। उसके अनुसार जिस छन्द के प्रत्येक चरण में पडने वाले सरसगण वाले चार द्विज गण (चार चतुष्कल) स्थापित कर अंत में कमलगण (सगण) चारों चरणों में किया जाय उसे धवला कहते हैं। उदाहरणः—

तरुण तरणि तवइ धरणि पवण वहु खरा,
लग णहि जल बड़ मरुथल जणजिअणहरा ।
दिसइ चलइ हिअअ डुलइ हम इकलि वहू ।
घर णहि पिउ सुणहि पहिअ मण इछइ कहू ।। (धवला)

संवत् १८८१ में रचित राजस्थानी छन्द ग्रन्थ 'रघुवर जस प्रकास' मे धवल छन्द का लक्षण और उदाहरण इस प्रकार दिया गया है ।

अरिवर गुणीसह अवर लघु, ग्यारहमौ गुरु होइ ।
६ नगण गुरु अतह सुफिर, धवल कहावै सोर ।।

छद धवल

कलह मभ्क गहत जद राम धनु निज सुकर ।
हरत रिम कटक घण-माल उर सम्पत हर ।।
खुलत रिख नयण सुण पंख पलचर खरर ।
डगमगत थर धुसत भाज परबत डरर ।।

पुन अन्य विधि छन्द धवल

जिण पय सुरसरि अघहर सरित जनम है ।
करत मजन तिण जल जन कटत अक्रम है ।
बिबुध सकल अहनिससु जपत सियवर है ।।
तव नित किसन रसन रघुवर सुरतर है ।

उपरोक्त दोनों छन्द ग्रन्थो मे जो धवल छन्द के लक्षण और उदाहरण दिये गये है वे शास्त्रीय ढग के है । उपलब्ध धवल सज्ञक जैन रचनाओ मे वे लक्षण घटित नही होते । उनकी परम्परा लोक गीतों की शैली पर आश्रित है । छन्द और राग विविध प्रकार के है कोई एक निश्चित बधा हुआ ढाचा नही है ।

धवल के सबंध में केवल उल्लेख ही नही मिलते पर रचनाएं भी तेरहवी शताब्दी से सतरहवी शताब्दी तक की (धवल संज्ञा वाली) जैन विद्वानो द्वारा रचित मिलती हैं जिनसे धवल गीतों के स्वरूप के सबंध मे भी हमें अच्छी जानकारी मिल जाती है। उपलब्ध धवल गीतो मे सबसे प्राचीन 'श्री जिनपतिसूरि धवल गीत' हमारे सग्रह की सवत् १४९३ की लिखी हुई प्रति मे प्राप्त हुआ है । एक ही प्रकार के एक ही आचार्य के सबध में दो श्रावको—साह रयण एव भत्तउ रचित गीत संवत् १२७७ के लगभग के रचित है ।

ये दोनो गीत अब से २३ वर्ष पूर्व हमने अपने सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' मे प्रकाशित किये थे। इनमे से साह रयण रचित श्री जिनपतिसूरि धवल गीत के प्राथमिक तीन पद्य नीचे दिये जा रहे है—

वीर जिणेसर, नमइ सुरेसर, तस पह पणमिय पय कमल।
युगवर जिनपतिसूरि गुण गाइसो, भक्तिभर हरसिहि मनिरमले ॥१॥
तिहुअण तारण, सिव सुख कारण, वछिय पूरण कल्पतरो।
विघन विनासण, पाव पणासण, दुरित तिमिर भर सहस करो ॥२॥
पुहवि पसिद्धउ सूरि सूरिश्वर, शम दम सयन सिरि तिलउ ए।
इणि कलिकालहि, एह जो जुगपवर. जिणवइ सूरि महिमा निलउ ए ॥३॥

ऐसे गीत और भी कई मिले हैं पर उनको धवल सज्ञा नही दी गई इसलिए उनकी चर्चा यहा नही की जा रही है। आचार्यों के नगर प्रवेश पट्टोत्सव एवं अन्य धार्मिक प्रसगो मे ऐसे गीत गाये जाते थे। वे अधिकाश मौखिक रहे और छोटे-छोटे होने से सुरक्षित नही रह सके।

विवाह प्रसंग के साथ तो धवल मंगल गीतो का खास सबंध है और विवाहलो एवं मगल काव्य पचासों की संख्या मे उपलब्ध है, जिनके सबंध मे मेरे कई लेख प्रकाशित हो चुके है। कई विवाहलो या विवाह संज्ञक काव्यो मे धवल का नाम भी पाया जाता है। यहा ऐसे ही कुछ काव्यों का परिचय दिया जा रहा है। ऐसे काव्यों मे सबसे पहला काव्य सवत् १३२० के लगभग का "अतरंग विवाह धवल" अपभ्रंश भाषा मे रचा हुआ प्राप्त हुआ है। जिसको वसन्त राग मे गाने का उल्लेख किया गया है। जिन प्रभसूरि रचित इस काव्य का आदि-अन्त इस प्रकार है—

आदि— पमाय-गुण ठाणुपाटणु तहि अहे भवियजिउ निरुवमु वरु ए।
चउविहसघु जानउत्र कीय अहे वाहण सहस सीलगं ॥१॥
सुभ परिणामु सवेग सहि अहे वर गढ़ सोहइ ते सु ए।
उवसमरोणि आवासु कीउ अहे धर्मध्यान वानउ लागउ ए ॥२॥

अंत— इणिपरि परिणए जो अ जगि अहे लहइ सो सिद्धिपुरिवासु।
मांगलिकु वीर जिण प्रभ ए अहे मांगलिकु चउवीह संघ ए ॥

अंतरंग विवाह धवल वसंत रागेन भणनीय ॥

चौदहवीं के उत्तरार्द्ध या पन्द्रहवी के प्रारंभ की एक धवल आठ पद्यों की प्राप्त

हुई है उसका नाम कयवन्न धवल है। इसकी प्रतिलिपि हमारे संग्रह मे है।

पन्द्रहवी शताव्दी मे जयशेखरसूरि रचित 'नेमिनाथ धवल' तेरह पद्यो की मिलती है। इसका आदि-अन्त इस प्रकार है—

आदि— द्वारिका घरि-धरि मंगल चारु, समुद्र विजय, नरवर तणउ ए।
शिवा देवी माडिय तणउ मल्हारु नेमी कुंवर वर परणिइ ए॥
उग्रसेन राय तणीय कुमारी राजल रूवि रलीयामणी ए॥१॥

अत— राणी राजलि तणउ आनदु, कवि जण केतलउं केलवइ ए।
जयजय जग गुरु नेमि जिणन्दु जिणि नेड़इ जइपुरीउ ए॥१३॥
इति श्री जय शेखर सूरि सु गुरु कृता श्री नेमि नाथ धउल।

इसी शताव्दी के सुप्रसिद्ध कवि देपाल के 'आद्रकुमार विवाहलउ' मे धवल नामक लोक-गीत या देशी का प्रयोग हुआ है। इसलिए उसका नाम भी कई प्रतियों मे 'आद्र कुमार धवल' पाया जाता है। उसका आदि-अन्त इस प्रकार है।

आदि— माइ ए नयरइ सिह दुवारि, पच कन्या रामती रमइ ए।
तिहुं पणि वरियला थम च्यारि, वरनवीं पामइ पचमी ए।

अंत— अम्ह प्रिय वच्छरहावीयउ ए रसतलइ बार वरीस तू।
बडउ लेसालिउए। जयवन्त हो जेवच्छ तू भलइ ससालीयउ ए॥

इस रचना की दो प्रतिया हमारे संग्रह मे है जिनमे से एक सवत १४९३ की लिखी हुई है।

सोलहवी शताव्दी में सेवक कवि रचित 'ऋषभदेव विवाहलउ' के नाम से दो रचनाए मिलती है जिनमे से एक सवत १५९० में रची गई है उसमें उस रचना का नाम 'धवल' दिया गया है। 'तस पय परसादिइ, गायउ धवल जिणन्द' दूसरी रचना के प्रारम्भ मे उसका नाम ऋषभ विवाहलो दिया है पर अत मे दो पद्यों मे उसका नाम 'धवल' भी दिया गया है। यथा—

'ऐह धवल करतां आण विरोधी जेह।
ऐह धवल गाई जिन आराहइ जेह नर नारी सदा
ते मुगती जाइ सुखीय थाइ बोलइ 'सेवक' इम सदा'

यह धवल वन्ध विवाहली काफी बडा है। इसमे ४४ ढाले हैं। इसका प्रचार भी बहुत ही रहा है। हमारे संग्रह में कई प्रतियाँ हैं।

सतरहवी शताब्दी मे तो धवल संज्ञा वाले कई काव्य रचे गये और वे काफी बड़े-बड़े हैं। इनका परिचय देने से पूर्व १६ वी शताब्दी की एक छोटी रचना 'नेमिनाथ धुल' के दो पद्य उद्धृत किये जा रहे है इसका राग 'भैरवी' पद बन्ध बतलाया गया है। पद्य संख्या आठ है।

धवल संस्कृत शब्द का अपभ्रंश रूप धुल अथवा धोला हो गया और इसके बाद 'धौल' नाम प्रसिद्ध हुआ। गुजरात मे वैष्णव और विशेषतः वल्लभ सप्रदाय में सैकड़ों 'धौल' पद या गीत रचे गये। उनका संग्रह 'विवध धौल तथा पद संग्रह' के दो भागों मे गुजराती प्रतिलिपि मे प्रकाशित हो चुका है। अब नेमिनाथ धुल के आदि अंत के पद्य दिये जा रहे हैं—

श्री नेमिनाथ धुल, रागु भैरवी पद बन्ध।

आदि— सहजि सलूणड़ी नारि, मिलीअ सतेवड़ तेवड़ी ए।
राउलड़ा घर बारि, नेमि कुमर वर जोयती ए ॥१॥

अंत— इण परि नेमि कुमार गुण गाइ सवि कामिणी ए।
राणीय राजिमति भत्तार मंत्रि धारिसिंघ स्वामिणी ए ॥८॥

इसी समय की इसी तरह की और भी कई धवलें मिलती हैं पर उन सबका परिचय देना यहां आवश्यक नही। जिस प्रकार रास पहले छोटे-छोटे बनते थे और पन्द्रहवी शताब्दी से उनके आकार मे बढ़ोत्तरी हुई उसी तरह भी पन्द्रहवी शताब्दी के प्रारम्भ तक तो छोटे-छोटे गीतों के रूप में थे पर सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बड़े-बड़े 'धवल' बनने लगे। इसका मुख्य कारण यह था कि छोटे-छोटे धवल गीतों को उत्सवादि प्रसंगों मे स्त्रियां गाती थी। वहां लम्बे काव्यों को गाने का अवकाश न था पर जब रासों की तरह धवलों का कई ढालो में रचा जाना प्रारम्भ हुआ तो उत्सवादि प्रसंगों के वे गेय-गीत नही रहे।

सोलहवी शताब्दी की धवल संज्ञक दो बड़ी रचनाओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी शताब्दी की एक और रचना 'शान्तिनाथ विवाहलु धवल प्रबन्ध' आनन्द प्रमोद रचित प्राप्त है जिसकी रचना पाटण मे संवत् १५९१ मे हुई। इसमें सोलहवें जैन तीर्थंकर शान्तिनाथ के विवाह आदि के जीवन प्रसंगों का वर्णन है। इसे 'धवल प्रबन्ध' और 'विवाहलो' दोनों नाम दिये गये है। चौसठ ढालो का यह एक सुन्दर काव्य है। आदि और अंत के कुछ पद्य इस प्रकार है—

' आदि—सरसति सामिणी हसला गामिणी मझ मनि एक उमालहु ए,

घवल प्रबधिहि बार भवंतर, सुन्दर शांति विवाहलु ए ॥

अत—रचिउ संति विवाहलु घरि उमाहल, तु ं तु ं त्रिभुवन केरु नाहलु रे ।

भवभय भजन दालिद्र गजण, वीर मेवाड़ा मंडणु रे ॥५२॥

इन्द्र चउसठिइ करइं, स्नात्र चउसठि रे, ढाल चउसठि रच्या घवलबंधि ।

संति समरथ देवा निज पद देवा, मागु ं भवि तुझ पयकमल सेवा ।

पाटणमांहि अेकाणुआ मांहिरे, गुरू पुण्वि गाइओ संति नाह रे ।

नवरस सागर भणइ जेनारि नर, सुख आगर संपति लेह अे ॥५६॥

नामि नवनिधि रे अष्ठ महासिद्धि रे, भणे आनन्दलहे ऋद्धि वृद्धि ॥५७॥

कवि ने इसे 'नवरस सागर' नाम दिया है इसलिए इसका साहित्यिक दृष्टि से मूल्याकान होना भी आवश्यक है । इसकी हस्तलिखित प्रति हमारे संग्रह मे भी है ।

सतरहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे कवि 'ब्रह्म' ने शान्तिनाथ विवाहलो—घवल और वासु पूज्य स्वामी घवल की रचना की । जिनमे से प्रथम काव्य की प्रति हमारे संग्रह मे भी है । दोनों काव्यो के आदि-अंत के पद्य इस प्रकार है—

आदि—आराधु भाविइं संतिकरण श्री सति,

गुरुवा गुरु वन्दउ, टाली मननी चंति,

निर्वाणी नामइं शासन देवि सभारु

सोलम जिन वरणु ं घवल रचिसुहक ं सारु ॥१॥

अंत—शांति जिनेसर स्वामी सोलमउं गायो मन उल्लास,

श्री ब्रह्म कहइ नितु सेवा सारतां पूरई आस ॥२१॥

घाणंद आणी रे जग गुरु गाइयई

वासुपूज्य घवल का आदि-अत पद्य ।

आदि—चउवीसइ जिण चरणे लागीइ, वर श्रुतदेवी पासइं मागीइ ।

लागीइ पाये श्री सुगुरुनइं, घवल रचिसु, सुहामण ं ।

अंत—रचयउ ं घवल जिन चरित वखाण्यउ ं, जाणी गुरु मुखी मर्म ।

ता थिर पढ़उ गुणउ ं भवियणजण जां वरतइं जिण घर्म

इसी कवि का एक 'नेमिनाथ घवल' चवालिस ढालों में प्राप्त है । उसका आदि अन्त इस प्रकार हैं :—

आदि—शारद सार दया करि देवी हियड़ा भीतर आणी जी।
नेमिनाथ नूं धवल रचिसुं सरस सु कोमल वाणी जी ॥
अंत—ए धवल सयउ म इं, आणी मन आणंद।
ब्रह्मचारी निरुपम गायउ नेमि जिणंद।
कहे श्री ब्रह्म सदा जिन वंदइ वे कर जोड़ी।
ते अलवइ पामइ सुख सम्पति नी कोंड़ी ॥२०१॥

दो सो दो पद्यों की इस धवल की श्लोक परिभाषा चार सौ छिहत्तर अनुष्टुप छंदों में है। संवत् १६१५ की लिखित प्रति प्राप्त है।

इसी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि नयसुन्दर रचित 'नेमिनाथ धवल' की संवत् १६६१ की लिखी हुई आठ पत्रों की प्रति राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के संग्रह मे है।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है जैन कवियों की कई रचनाओ मे एक ही कृति का नाम विवाहलो और धवल दोनो दिया गया है। अर्थात् उनकी दृष्टि मे ये दोनों पर्याय-वाची नाम रहे है। इसलिये पचास से अधिक जो जैन विवाहलों काव्य उपलब्ध है। उनमे भी खोज करने पर कई काव्यो मे उनकी सज्ञा धवल भी मिलेगी। वैसे फागु और धमाल काव्य भी जैन विद्वानो के बनाये हुए अनेक मिलते है। उनमे से एक 'आद्र कुमार धमाल या चौढालिया' को भी धवल की संज्ञा दी गई है। इस काव्य की कई प्रतिया हमारे संग्रह में है जिनके अंत मे किसी प्रति मे उसे 'धवल' लिखा है, किसी प्रति मे 'धवल-धमालि' और किसी प्रति मे उसे 'चौढ़ालिया' बतलाया है। इस रचना का नाम आद्रकुमार धवल है इसकी रचना संवत् १६४४ के श्रावण मे राजस्थान वर्ती अमरसर नामक स्थान मे कवि कनकसोम ने की थी। पद्य सख्या ४९ है। आदि-अंत इस प्रकार है।

आदि—सकल जैन गुरु प्रणमु पाया, वाग्देवी मुझ करहु पसाया
गाइसु आद्र कुंवर ऋषि राया, जिन मुनि पाली प्रवचन माया।
अंत—संवत् सोल चमाल श्रावण धुरइ नगरि अमरसर सार।
कनक सोम आनद भगति भण्यउ, भणता सब सुख कार ॥४९॥
इति श्री आद्रकुमार धवल।

सत्रहवी शताब्दी के बाद जैन कवियो ने इस धवल रचना प्रकार का विशेष उपयोग नही किया और उस समय के बाद से वैष्णव, विशेषतः वल्लभ सम्प्रदाय में 'धौल' गाये जाने का खूब प्रचार हुआ। छोटे छोटे धौल गीत तो व्रजभाषा और गुजराती मे

सैकड़ों की संख्या में बनाए गये । परन्तु 'अष्टाक्षर धौल' ४१ पद्यों का "सर्वोत्तम धौल" ६८ पद्यों का, ब्रज चौरासी कोस परिक्रमा धौल, १२६ पद्यों का, इस तह कई लम्बे काव्य भी रचे गयें है । वे प्रकाशित हो चुके है ।

राजस्थान मे भी 'धवल' गीत गाये जाते है, जिनमे से श्रीमाली ब्राह्मण जाति में गाये जाने वाले 'उषादे का धौल' ३१ पद्यो का है और 'बड सावित्री रो धौल' ५४ पद्यों का है । जनोई के धौल गीत १२ और २२ पद्यों के हैं । ये चारो धौल जोधपुर से संवत् १९८७ मे प्रकाशित 'गीत रत्न माला' नामक ग्रन्थ मे प्रकाशित हो चुके है । मौखिक रूप से गाये जाने वाले और अनेक धौल गीत राजस्थान मे प्रचलित है ।

इस तरह हमने धवल-गीत के सम्बन्ध मे यथा ज्ञात जानकारी दी है । इससे यह स्पष्ट है कि सैकडों वर्ष से धवल गीतों के गाये जाने का प्रचार राजस्थान, गुजरात, सिन्ध, ब्रज-प्रदेश आदि में समान रूप से रहा है । छन्द ग्रन्थों मे उसे एक छन्द माना है और सगीत ग्रन्थो मे उसे एक राग विशेष । लोक जीवन में धवल गीतो की प्रतिष्ठा और प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है । उत्तर और दक्षिण भारत में इसका व्यापक प्रचार भारतीय जन जीवन की एकता का द्योतक है । पारस्परिक प्रीति-संवर्द्धन के लिए ऐसे काव्य-प्रकारों और संगीत-प्रकारो का व्यापक अध्ययन अपेक्षित है ।

वेलि संज्ञक काव्य

जिस प्रकार लोक साहित्य में बहुत सी बातें प्रान्त और देश का भेद न रखते हुए सर्वत्र एक सी पाई जाती है उसी प्रकार शिष्ट साहित्य में भी रचनाओं की बहुत सी संज्ञाएं शैलियां आदि बहुत व्यापक प्रदेश में समान रूप से पाई जाती हैं। उन सज्ञाओं और शैलियों की एकता व समानता के संबंध में विशेष अनुसंधान कर प्रकाश डाला जाना आवश्यक है।। समय समय पर उनमें जो परिवर्तन और अन्तर भेद हुए है, उन पर भी सूक्ष्मता से विचार किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ विवाहला और मगल काव्यों की परम्परा बहुत दीर्घकालीन और विशाल रही है। राजस्थान, गुजरात और हिन्दी भाषी प्रदेशों के अतिरिक्त बंगाल तक में यह परम्परा देखने को मिलती है। इस संबंध में मैंने तत्सम्बन्धी लेख में प्रकाश डाला है। इसी प्रकार वेलि या वेलि संज्ञक काव्यो की परंपरा भी राजस्थानी, गुजराती व हिन्दी साहित्य में दीर्घकाल से चली आ रही है। इसका संक्षिप्त परिचय देना ही प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

वेलि संज्ञक रचनाओं से स्पष्ट है कि ५०० वर्षों से इस संज्ञा की खूब प्रसिद्धि रही है। राजस्थानीं भाषा की सर्वश्रेष्ठ कृति "किसन रुक्मिणी री वेलि" से तो सभी परिचित हैं। इस काव्य की लोकप्रियता का यह ज्वलंत प्रमाण है कि रचना के थोड़े समय बाद ही इसकी ढूंढाड़ी, मारवाड़ी और संस्कृत मे आठ-दस टीकाऐं रची गयी और व्रज भाषा में भी इसका पद्यानुवाद, लाहौरी गोपाल कवि ने, "नौरस विलास" के नाम से मिर्जा-खान के लिये किया। राजस्थानी भाषा के किसी ग्रथ का प्राचीन व्रजभाषा मे होने का यह एक उदाहरण ही है। ग्रन्थ से जैन समाज का कोई सम्बन्ध न होने पर भी इसकी पांच छह टीकाएं जैन विद्वानों की रची हुई मिलती हैं जिनमें दो संस्कृत की और चार राजस्थानी की प्राप्त हैं।

प्रस्तुत किसन रुक्मिणी री वेलि से भी पूर्व रचित वेलि संज्ञक आठ दस रचनाए जैन तथा जैनेत्तर विद्वानो की उपलब्ध हैं। उनका परिचय हिन्दी संसार में तो प्रायः

अविदित ही है और राजस्थानी भाषा की वेलि संज्ञक जैनेतर रचनाऐं भी करीब १५ मिलती हैं, उनकी भी जानकारी अभी तक प्राय: नही है। केवल मेरे लेख के आधार से स्वामी नरोत्तमदास जी द्वारा सम्पादित "किसन रुक्मिणी री वेलि" की प्रस्तावना मे १० रचनाओ के नाम ही दिये गये मिलते हैं, जबकि राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी की करीब ५० से अधिक वेलि संज्ञक रचनाओ की जानकारी मुझे प्राप्त है। उनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

वेल, वेलि या वल्लरी ये तीनो संज्ञाऐं एक ही अर्थ की पोषक हैं। पृथ्वीराज राठौड ने अपनी किसन रुक्मिणी री वेलि मे अपनी रचना की संज्ञा वेलि रखने का कारण स्पष्ट करते हुए पद्यांक २९१ से ९३ मे लिखा हैं —

वेली तसु बीज भागवत वायउ महि थाणउ प्रिथुदास मुख।
मूल ताल, जड अर्थ मांडहइ, सु-थिर करणी चढि छाह सुख ॥२९१॥
पत्र अक्खर दल द्वाला जस परिमल नव रस तंतु विधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सु अरथ मजरी, मुगती फूल फल भुगति मिसि ॥२९२।
कलि कलप वेलि, वळि कामधेनुका, चिंतामणि सोम वेलि यत्र।
प्रगटित प्रथमी प्रिथु मुख पकजि अखराउलि मिसि थई अेकत्र ॥२९३॥
प्रिथु वेलि कि पंच विध प्रसिध प्रनाली आगम नीगम कजि अखिल।
मुगति तणी नीसरणी मडी, सरग लोक सोपान इल ॥२९४॥

भावार्थ — यह 'वेलि, वेलि (लता) के समान है। इसका बीज भागवत पुराण है। दास पृथ्वीराज का मुख पृथ्वी का वह स्थान है, जिसमे यह बीज बोया गया। मूल पाठ इसकी डालियाँ है। अर्थ इसकी जड है। श्रोताओ के स्थिर (एकाग्रता से सुनने वाले) कान मंडप हैं, जिनके ऊपर यह चढी रहती है। सुख इसकी छाया है ॥२९१॥

अक्षर इसके पत्ते है। दोहले (पद्य) इसकी पंखुडियां है। भगवान का यश इसकी सुगंधी है। नवरस इसके ततु है। यह रात दिन बढती है भक्ति इसकी मंजरी है। साहित्य रसिक इसके भ्रमर है। मुक्ति इसका फूल है और परमानंद का भोग इसका फल है ॥२९२॥

कल्पना लता, कामधेनु, चिंतामणि और सोमलता ये चारो पृथ्वीराज के मुख कमल से वेलि के अक्षर समूह के रूप में एकत्र होकर इस कलियुग मे पृथ्वी के ऊपर प्रकट हुई है ॥२९३॥

यह पृथ्वीराज कृत वेलि है अथवा समस्त निगमागमों तक पहुँचाने वाली सुप्रसिद्ध पांच प्रकार की पगडंडी है अथवा स्वर्गलोक को ले जाने वाली सोपान श्रेणी है।

(स्वामी नरोत्तमदास जी द्वारा संपादित संस्करण में)

वेलि संज्ञक कई काव्य विवाह वर्णन प्रधान है। इसलिए प्रो० मंजुलाल मजूमदार ने विवाह प्रसंगों के वर्णन वाले काव्य की सज्ञा वेलि मानी है। पर वास्तव में वेलि काव्यों में विवाह वर्णन वाले काव्य बहुत थोड़े ही है। किसन रुक्मिणी वेलि आदि चारण कवियों की रचित इस सज्ञा वाली रचनाओं मे प्रयुक्त छद 'वेलियो गीत' के नाम से भी प्रसिद्ध है मात्रिक छंदों की जाति मे छोटा साणोर नामक एक छंद है। उसके चार उपभेदों मे एक वेलियो भी है, उसका लक्षण वतलाते हुए कहा गया है—

"मुहरावाली तुक सही, मुहरामांहि सुणन्त।
वणे गीत इम वेलियो, आद गुरु लघु अंत॥

स्वामी जी ने वेलियों का लक्षण इस प्रकार वतलाया है:—

"जिसके चारों चरणों मे क्रमशः १६-१५-१६-१५ मात्राएं हो। इसकी गति वीर या आल्हा छंद के समान होती है। अंत मे ऽ आता है।"

गीत के प्रथम पद्य के प्रथम चरण मे सर्वत्र दो मात्राए अधिक होती है। अर्थात प्रथम चरण १६ मात्रा के स्थान पर २+१६=१८ मात्र का होता है। (ये अतिरिक्त दो मात्राएं चरण के आरंभ में अर्थात १६ मात्रा के पूर्व जुड़ती है, चरण के अन्त मे अर्थात १६ मात्रा के बाद नही जुडती)

वास्तव में न तो प्रो० मजुलाल मजूमदार ने जो वेलि को विवाह वर्णन प्रधान काव्य माना है वह लक्षण ही सर्वत्र मिलता और न वेलि सज्ञक समस्त काव्यों में वेलियो गीत छंद ही प्रयुक्त हुआ है। वास्तव मे वेलि सज्ञा लता के अर्थ मे लोक-प्रिय हुई और अनेक कवियों ने उस नाम के आकर्षण से अपनी रचनाओ को 'वेलि' इस अन्त्य पद से संबोधित किया।

उपलब्ध वेलि काव्यों में सबसे अधिक रचनाएं जैन विद्वानों की है। उसके पश्चात चारण कवियों का स्थान आता है और तदनन्तर हिन्दी के कवियो का, फिर जैनेतर गुजराती कवियों का। गुजराती मे वेलि के नाम वाली चार पांच रचनाएं ही मिलती हैं। जैन कवियों में श्वेताम्बर कवियों की रचनाए ही अधिक हैं। दिगम्बर कवियों की वेलि संज्ञक पांच रचनाऐं ही मिलती हैं।

वेलि संज्ञक काव्यों का वर्गीकरण भाषा और विषय के आधार पर किया जा सकता है। भाषा उनकी हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी तीनों हैं। बहुत से काव्यो का विषय ऐतिहासिक व्यक्तियों का गुण वर्णन है कुछ मे देवी देवताओं की स्तुति है। कुछ पौराणिक व्यक्तियों से सबन्धित हैं तो कुछ जैन धर्म से भी संबन्धित हैं। आगे दी जाने वाली रचनाओं के परिचय से यह स्पष्ट हो जायगा।

उपलब्ध साहित्य मे जैन कवि वाछा (?) रचित-'चिहुगति वेलि' सबसे प्राचीन है। जिसका रचना काल १५२० ई० के लगभग का है। १६वी शताब्दी मे सीहा, लावण्य समय, सहज सुन्दर, इन श्वेताम्बरों, इसी प्रकार दिगम्बरों व जैनेतरों की रचनाए भी प्राप्त होती हैं। १७वी शताब्दी में जैन-कवियों और चारण कवियों ने बहुत सी वेलि नामान्त पद वाली रचनाएं बनायीं। १८वी व १९वी शताब्दी में भी यह क्रम जारी रहा। २० वीं शताब्दी की कोई उल्लेखनीय रचना ज्ञात नही है। वैसे आज भी इस संज्ञावाली रचना की जाती है। 'विहुकम' के गत कार्तिक २०११ के अंक में श्री मंगल मेहता रचित 'ममता वेलि' नामक गद्य गीत प्रकाशित हुआ है। 'चिहुगति वेलि' से भी पहिले की रचना भी प्राप्त होनी चाहिए; पर जब तक उसका पता न चले वेलि संज्ञक काव्य की परंपरा पांच सौ वर्ष दीर्घ तो सिद्ध है ही। गुजरात, राजस्थान और हिन्दी प्रधान देशों के अतिरिक्त बंगाल, महाराष्ट्र आदि मे वेलि संज्ञक रचनाए हो तो उनकी जानकारी प्रकाश मे आनी चाहिए।

उपलब्ध सर्व प्रथम रचना, 'चिहुगति वेलि' जैन धर्म के अनुसार मनुष्य, देव, तिर्यक् और नारकी इन चार गतियों के दुखों का वर्णन करने वाली है। हमारे संग्रह की प्राचीन प्रति के अनुसार इसमें ११३ पद्य हैं। अन्य प्रतियों में १४२ पद्य मिलते है प्रारंभ और अंत के कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे हैं:—

देव दया पर नमि निरंजन, सज्जन कोई विचारी।
विषय कसाय वाकि मनवारी, आपण यू संभारी।
किहासु आवियों किहा तू जाइसि, थाइसि केहवउ प्राणी।
अ संसार पराभव पेखी, जोड चेतना आणी॥
ममता माया सूं मन वासियूं करइ कसाय कलोल।
समय शील धरिमा विसारी, भाडियउ धर वंदोल।

लख चरौसी योनी भमंता, माणस जउन्भव लाधो।
एक सदा जिनवाणी उचारि, आज आपणो साधो ।।

अन्य प्रतियों में प्रारंभ के पद भिन्न प्रकार के भी मिलते हैं। इस रचना मे नरक गति के दुखों का विशेष वर्णन है इसलिए इसकी एक प्रति में 'नरक वेदनानी वेलि' नाभ भी लिखा मिलता है। अत के कुछ पद्य इस प्रकार है:—

गिणी काल जिन पूज कीजइ, सुगुरु वही जइ आण।
भवियण श्री जिण धर्म करन्ता, पामीसिइ कल्याण ।।१३२।।
ऐ चिहु गतिनि वेलि विचारि, जे पालइ जिण आण।
तेहना चरण कमल नइ पासइ, हूँ वाछुं गुण ठाण ।।१३३।।

यद्यपि अतिम पद मे "वाछु" शब्द "चाहता हूँ" अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है पर श्री मोहनलाल दलीचद देसाई ने जैन गुर्जर कवि भाग १ और ३ मे वच्छा या वाछो कवि की रचनाओ मे इसे भी सम्मिलित किया है।

इसी के आस पास की सिहा कवि की दो छोटी छोटी रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। जिन्हे स १५२५ की लिखित प्रति से नकलकर जैन युग पुस्तक पाच पृष्ठ ७३ से ४७७ तक मे प्रकाशित किया गया है। इनमे जम्बू स्वामि वेलि १८ पद्यो की है और रहनेमि वेलि १६ पद्यों की है। जैसलमेर भडार मे इसी कवि की नेमिवेली १५ पद्यों की देखी थी। वह उपर्युक्त रहेनमि वेलि से भिन्न है या अभिन्न प्रति पास न होने से निश्चय रूप से नही कहा जा सकता।

इनकी परवर्ती रचना लावण्यसमय रचित गर्भवेलि हैं जो ११४ पद्यो की है। इसी नाम की ४४ पद्यों की अन्य रचना भी सहज सुन्दर कवि की प्राप्त होती है। पृथ्वीचन्द्र गुणसागर वेलि की दो पत्रो की प्रति धराद के भंडार मे है, सभवतः वह भी १६ वी शताब्दी की हो। १७ वी शताब्दी मे वेलि नामवाली रचनाए सबसे अधिक मिलती है जिनकी नामावली इस प्रकार है।

सव्वत्थ वेलि प्रबन्ध	साधु कीर्ति	स० १६१४ के आसपास
गुणाठाणा वेलि	जीवंधर	स० १६१६ (लिपिकाल)
लघु बाहु बलि वेलि	शातिदास	सं० १६२५ (लिपिकाल)
जइत पद वेलि	कनक सोम	सं० १६२५

गुरु वेलि	भट्टारक धर्मदास	स० १६३८ से पूर्व
स्थूलिभद्र मोहन वेलि	जयवंत सूरि	स० १६४८
नेमिराजुल बारहमासा वेलि प्र०	,,	स० १६५० के आसपास
वीर वर्द्धमान जिन वेलि	सकलचन्द्र उपाध्याय	स० १६४३-३० के मध्य
साधु कल्पलता साधु वंदना मुनिवर सुर वेलि	,,	,,
हीर विजय सूरि देशना वेलि	,,	स० १६५२ के बाद
ऋषभ गुण वेलि	ऋषभदास	स० १६६६ ८७ के मध्य
बलभद्रवेलि	सालिग	स० १६६६ (लिपिकाल)
चार कषाय वेलि	विद्याकीर्ति	स० १६७० के आस पास
सोमजी निर्वाण वेलि	समय सुन्दर	स० १६७० ,,
प्रतिमाधिकार वेलि	सामत	स० १६७५ (लिपिकाल)
वृद्धगर्भ वेलि	रत्नाकर गणि	स० १६८०
पंचगति वेलि	हर्ष कीर्ति	स० १६८३
पार्श्वनाथ गुण वेलि	जिनराज सूरि	स० १६८६
मल्लिदासनी वेलि	ब्रह्मजय सागर	१७ वी शती
आदित्य वारनी वेल कथा		

वेलि संज्ञक जैनेतर राजस्थानी रचनाएं

चारणादि कवियों की वेलि रचनाएं भी काफी मिलती हैं पर उनका समय निश्चित नही फिर भी अधिकाश रचनाओ का समय १७वी व १८वी शती का प्रारम्भ ही प्रतीत होता है। किसन रुक्मिणी वेलि के अनुकरण मे आढा किसना कवि ने महादेव पार्वती वेलि की रचना की जिसकी प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरी मे है। इन दो के अतिरिक्त दो अन्य रचनाए छोटी-छोटी उपलब्ध हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है:—

१. आई माता जी री वेलि — प्रकाशित मरु-भारती वर्ष ३ अक १

यह संत सहदेव रचित है। शिवसिंह चोयल ने इसके अतिम पद्य मे जो स० १५७६ का उल्लेख है, उसे इसका रचनाकाल माना है पर वह विचारणीय है।

रूपादेरी वेलि — इस नाम की दो रचनाओं को मैंने मरु-भारती वर्ष २ अंक ३ मे प्रकाशित किया है। उनका रचनाकाल १५वी व १६वी शताब्दी का है। अन्य

रचनाएं इस प्रकार हैं —

१. किसन जी री वेल	सांखला करमसी रूणेचा	१६०० के आसपास
२. गुण चाणिक वेल	चूंडो दधवाड़ियों	१७ वी शती का आरंभ
३. राठौड़ देवीदास जैतावत री वेल	वारट अखो भाणोत	१६११ के आसपास
४. राठौड़ रतनसी खीवावत री वेलि		१६१४ के आसपास
५. राणे उदयसिंह जी री वेलि	आढ़ा किसना	१६६०-१७०० के मध्य
६. चांदा जी री वेल	वीठू मेहो दुसलाणी	१६२४ के बाद
७. किसन रुखमणि री वेलि	राठउड प्रथुदास	१६३७-४४ के मध्य
८. त्रिपुर सुन्दर री वेलि	जसवंत	१६४३ लिपिकाल
६. राजा रायसिंह जी री वेलि	सादू मालाजी	१६५३ के आसपास
१०. महादेव पार्वती री वेलि	गाडण चेलो	१६७२
११. राउ रतन री वेलि	महड्डू कल्याणदास	१६६४-८८ के मध्य
१२. राजा सूरसिह जी री वेलि	गाडण चेलो	१६७२
१३. राव श्री मालदेव जी री वेलि		
१४. डूंगरसिंह जी री वेलि	समधा	

१८ वी शताब्दी की जैन रचनाओं में बारह भावना वेलि जय सोम (सं० १७०३ में) रचित कई प्रतियों में ही उसे वेलि संज्ञा दी है। अधिकांश प्रतियों में नही है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित वेलियां उपलब्ध हैं :—

१. प्रवचन सार रचना वेलि	वेगड़ जिन समुद्र सूरि	
२. गुणसागर पृथ्वी वेलि	गुणसागर	१७२४ के आसपास
३. षड लेस्या वेलि	साह लोहट	१७३०
४. अमृत वेलि सज्झाय	यशोविजय	१७००-१७३९ के मध्य
५. सुजश वेलि (जस वेलडी)	कांति विजय	१७४५ के आसपास
६. संग्रह वेलि	बालचन्द	१७४५
७ नेम राजुल वेलि	चतुरविजय	१७७६
८. नेमि स्नेह वेलि	जिनविजय	
९. विक्रम वेलि	मतिसुन्दर	
१०. रघुनाथ चरित नवरस वेलि	महेसदास	१८ वी शती का प्रारंभ

११. म. अनोपसिंघजी री वेलि	गाडण वीरभाण	१७२६ के पूर्व
१२. पीर गुमानसिंघ जी री वेलि		१८ वी शती का अंत

१९ वी शताब्दी की रचनाएं भी बहुत सी मिलती है। उपलब्ध विवरण निम्न-लिखित है:—

१. जीव वेलड़ी	देवीदास	१८२४ के आसपास
२. वीर चरित्र वेलि	ज्ञान उद्योत	१८२५ के ,,
३. शुभ वेलि	वीर विजय	१८६०
४. सील वेलि	,,	१८६२
५. स्थूल भद्र की रस वेलि	माणक विजय	१८६७
६ नेमि राजिमती स्नेह वेलि	उत्तम विजय	१८७८
७. सिद्धाचल सिद्धि वेलि	,,	१८८५
८. नेमिनाथ रस वेलि	,,	१८८९
९. नेमि स्नेह वेलि	जिन विजय	

इनके अतिरिक्त छंद जात भ्रमर वेलि और दया वेलि का उल्लेख ऐसियाटिक सोसाइटी के जैन ग्रन्थ की सूची मे है तथा आध्यात्मिक प्रसाद वेल का उल्लेख पढ़ा था पर वह देखने मे न आने से उसके रचयिता और रचना काल का पता नही है।

वेलि संज्ञक हिन्दी रचनाएं

हिन्दी भाषा मे कबीर के बीजक में वेलि नाम की एक छोटी सी रचना है, जिसमें प्रत्येक पंक्ति के अंत मे ही रमैया राम शब्द आते हैं। परन्तु बीजक की प्रामाणिकता संदिग्ध है अतः स्वामी नरोत्तमदास जी की सम्मति मे कबीर के नाम से संग्रहीत यह वेलि कबीर की रचना नहीं है।

तुलसीदास की "मनोरथ वल्लरी नामक एक रचना प्रसिद्ध है। इसी नाम की एक अन्य रचना भगवानदास और रामराज की ज्ञात हुई है। वृन्दावनदास की 'वेलि संज्ञक आठ रचनाएँ बतलायी गयी हैं। इसी प्रकार घनानन्द रचित "रस केलि वल्लि" और वियोग वेलि तथा नागरीदास रचित वैराग्यवल्लरी और क्रील वैराग्य वल्लरी प्रकाशित हो चुकी है। व्रजनिधि ग्रन्थावली में जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह रचित दुःख हरण वेलि और दादू ग्रथावली मे दादू रचित काया वेलि छप चुकी हैं।

जैनेतर गुजराती वेलि रचनाएं

जैनेतर कवियो द्वारा रचित गुजराती रचनाओं में "वल्लभ वेलि" एक ऐतिहासिक काव्य है जो कि केशवदास वैष्णव ने १७वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रचा है इसमे सं० १६७७ में गोकुलनाथ जी गोकुल आए, वहां तक का ऐतिहासिक वृत्तांत है। वल्लभाचार्य का जन्म संवत् इसमे १५२९ बतलाया गया है। प्रसंगों का संवत् वार उल्लेख इसमे महत्वपूर्ण है। 'वैष्णव धर्म पताका" मासिक के पोष १९८१ के अक मे यह छप चुकी है।

दूसरी रचना सीता वेल कवि वजिया की है। इसके पाच कड़वकों मे राम के साथ सीता का वर्णन है। सीता का स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है :—

> सीता रूप अलेखित वनिता करे बखान।
> सीता वेल सुरग्न रचि जिमि सरोवर सांरग पानि।

गुजरात विद्या सभा मे इसकी प्रति है। प्राचिन काव्य विनोद मे यह छप चुकी है।

जीवनदास रचित श्रुतवेल का उल्लेख हस्तलिखित पुस्तको की सूची में मिलता है। प्रेमानद रचित व्रजवेल में प्रधानतया कृष्ण के बाल-चारित्र का सरस भाषा में वर्णन है। कवि दयाराम रचित भक्तवेल मे भक्तों का चरित्र पाया जाता है। रसवेलि नाम की एक रचना स १७३८ की ज्ञात हुई है। सं० १६०७ में केशव किशोर रचित श्रीकीरतलीला में वल्लम कुल की वेलि का उल्लेख मिलता है।

> द्राविड़ भक्ति उत्पन्न है गुर्जर पर ले जानि
> प्रगट श्री विट्ठल नाथ जू दीनी वेलि बढानि ॥१७१॥
> श्री द्वारकेस्वर जु कृपा करी लीनी हो अपनाय।
> श्री वल्लभकुल की वेलि पर केशव किशोर वलि जाय ॥

यहां वेलि शब्द का अर्थ 'भक्ति की वेलि" समझना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दिगम्बर श्वेताम्बर और जैनेतर रचित वेलि संज्ञक रचनाओं का प्रारंभ १६वी शताब्दी से होता है। सबसे अधिक रचनाए श्वेताम्बर कवियों की है, जिनमे अधिकांश छोटी छोटी है। जैनेतर राजस्थानी रचनाओं में कृष्ण

रूक्मिणी और महादेव पार्वती वेलि ही बड़ी है, बाकी सब छोटी छोटी हैं। हमीर कवि ने स० १७८६ मे नवमाला वेलियो छद मे रची।

दिगम्बर कवियों द्वारा रचित वेलि

दिगम्बर जैन कवियो द्वारा रचित कई वेलि काव्यो का उल्लेख जयपुर दिगम्बर ग्रन्थ सूची भाग २ मे पाया जाता है। जिनमे से पचेन्द्रिय की वेलि ठाकुरसी कवि द्वारा रचित स० १५८५ की सबसे पुरानी है। इसकी हस्तलिखित प्रति हमारे सग्रह मे भी है, जिसमे रचनाकाल १५५० दिया है। आदि अत इस प्रकार है:—

वन तरुवर फल खातु फिरै, पय जीवतों सुछन्द
परसण इन्द्री प्रेरियो, बहु दुःख सहई गयन्द
कवि गेल्ह सुतनु गुण घामु, जग प्रगट ठकुरसी नामु।
केरि वेलि सरस गुणगाय, चित चतुर मनुष्य समझाया।
मन मूरख सख उपाई, तिरितेण चितिन सुहाई
नही जर्म्यो रवणु पसारो, इह एक वचन से सारो।
सवत पदरे से पचासे तेरिस सुद कातिक मासे।
जिहि मनु इद्रिय वसि किया तिहि हरत परत जग जिया।

इसी कवि द्वारा रचित नेमिराजमति वेलि और गुण वेलि तथा गेल्ह रचित नेमि वेलि का उल्लेख जयपुर भडार सूची मे है। ये तीनो रचनाए भिन्न है या अभिन्न प्रतियों के मिलाने पर ही निश्चय हो सकता है। इसी सूची मे भारत की वेलि का उल्लेख है। दिल्ली के पंचायती मंदिर की सूची मे १४ गुण स्थान वेलि का उल्लेख है जो यथा-कीर्ति के शिष्य ब्रह्मचारी जीवन घर रचित है। हमारे सग्रह मे हर्ष कीर्ति रचित पचगीत वेलि भी प्राप्त है जो संवत् १६३ मे रची गयी है। पच इद्रिय वेलि के साथ ही यह लिखी मिली है। दोनों एक ही शैली की है। आदि अत इस प्रकार है:—

आदि— किसन जिनेसर आदि करि, वर्द्धमान जिन अन्त।
नमस्कार करि सरस्वती, वरणो वेलि भन्त।
मिथ्यामोह प्रमाद मव, इन्द्री विषय कसाय।
जोग असजय सूं भरे, जीव निगोदह जाय।
अत-इक मे इक सिद्ध अनन्त, आ मिल जोति रहा गुणवंत।

जिहि अन्न जरा नहीं दीसै, सुख काल अनन्त गमीसे ।
सुभ संवत सोल तियासे, नवमी तिथि श्रावण मासे ।
भवि लोक सम्बोधन कीजे, कवि हर्षकीरत गुण राजे ।।

इसमें सबसे प्राचीन श्वेताम्बर रचना 'चिहुँगति वेलि' की भांति चार गतियों के दुःखों का वर्णन करते हुए पंचम मोक्ष-गतियों के दुखों का वर्णन करते हुए पंचम मोक्ष गति का वर्णन है । खोजने पर, संभव है और भी कुछ रचनाओं का पता चले। ये रचनाएं छोटी-छोटी हैं इसलिए उनका उल्लेख सूची पत्रों में कम ही मिलता है ।

इन समस्त वेलि संज्ञक रचनाओं का स्वतंत्र रूप से अध्ययन किया जाना आवश्यक है । अच्छा हो इनका एक संग्रह-ग्रन्थ प्रकाशित किया जाए ।

रेलुआ संज्ञक रचनाएं

प्रत्येक वस्तु की संज्ञा का कुछ न कुछ कारण होता है। उस संज्ञा की अपनी परम्परा होती है, जिसका अन्वेषण बड़ा रोचक और ज्ञानवर्द्धक होता है। साहित्यिक रचनाओं के नामों के भी विविध प्रकार हैं। कई रचनाओं की उसके आद्य पद से प्रसिद्धि हो जाती है जैसे "भक्तामर" "कल्याण मन्दिर" आदि। कई रचनाओं का नामकरण उनके विषय पर तथा कई रचनाओं का पद संख्या के आधार पर। लोकभाषा की रचनाओं में उनके विशेष ढांचे-वर्ण्य-विषय छंद आदि के आधार से सैकड़ों संज्ञाएँ पायी जाती हैं। जैसे फागु-विवाहलउ, रास, भास, धवल, धमाल, चर्चरी, वेलि, संवाद, संधि, पवाड़ा आदि सैकड़ों राजस्थानी एवं गुजराती भाषा की जैन रचनाएँ पायी जाती हैं। जिनमें से कुछ रचनाओं का परिचय मैंने एवं प्रो० हीरालाल रसिकदास कापड़िया ने जैन सत्यप्रकाश जैनधर्म प्रकाश, राजस्थानी, कल्पना, श्रमण आदि में प्रकाशित किया है। ऐसी रचनाओ की लगभग १२५ संज्ञाएं मैने एकत्रित की है जिनमें से कुछ पर अपने राजस्थान विश्वविद्यापीठ उदयपुर के सूर्यमल आसन में दिये हुए भाषण "राजस्थानी जन साहित्य" शीर्षक मे प्रकाश डाला है। यहां पर एक ऐसी अप्रसिद्ध संज्ञावाची रचना का परिचय दिया जा रहा है जिसका आज तक "जैन गुर्जर कविओ" आदि किसी ग्रन्थ में उल्लेख देखने मे नही आया।

बारह वर्ष हुए जैसलमेर के ज्ञान भण्डारों का अवलोकन करने के लिये हम प्रथम बार जब वहां पहुँचे तो वहां के बड़े ज्ञानभंडार आदि की समस्त कृतियो का भली भाति अवलोकन कर कतिपथ प्राचीन संग्रह प्रतियों मे से प्राचीन राजस्थानी की रचनाओं की प्रतिलिपियां की। तभी सर्व प्रथम हमे "रेलुआ" संज्ञक चार पांच रचनाओं की उपलब्धि हुई जो सभी खरतरगच्छीय रचनाये हैं और उनका रचनाकाल सं० १३३१ से १३८६ के बीच का है। अभी तक इसके पहले और पीछे की किसी शताब्दी की इस संज्ञावाली रचना हमारे जानने मे नही आयी।

'रेलुआ' संज्ञावाली प्राप्त रचनाओ मे उनके रचयिताओं ने कही भी इस नाम का प्रयोग नही किया है । उन रचनाओ के इस संज्ञा का उल्लेख प्रतिलेखन पुष्पिका मे पाया जाता है । प्राप्त सभी रचनाओ का छद एक ही प्रकार का है, और लोकगीतों की भाति पहले पद्य के अनन्तर प्रत्येक गाथा के बाद दुहरायी जाने वाली 'आंचली' पायी जाती है, इससे रेलुआ नामक किसी लोक गीत की चाल मे इन गीतों का निर्माण हुआ है और इसी कारण इन रचनाओ के अन्त मे 'रेलुआ' संज्ञा का प्रयोग कर दिया गया है। 'रेलुआ' को कही 'रेल्हुआ' भी लिखा है । ये लोक-गीत मूलरूप मे क्या था, इसका पता लगाना आवश्यक है ।

प्राप्त रचनाओं मे 'शालिभद्र रेलुआ' भगवान महावीर कालीन मुनिराज के संबन्ध में तथा अवशिष्ट सभी खरतरगच्छाचार्यो या उनकी परम्परा से सम्बन्धित है। जैसलमेर के बड़ा उपाश्रय स्थित पचायती भडार मे सं० १४३७ वैसाख शुक्ला २ खरतरगच्छाचार्य जिनराजसूरिजी के उपदेश व्य० देदा की पुत्री माकूर श्राविका ने लिखायी हुई स्वाध्याय पुस्तिका लिखी थी, जिसके प्रारभ एवं मध्य के कई पत्र प्राप्त नही है, ये रेलुआ संज्ञक रचनाएँ इसी प्रति मे प्राप्त हुई है। प्राप्त रचनाओं की सूची इस प्रकार है :—

१. जिनकुशलसूरि रेल्हुआ — गा० १० जयधर्मगणि पत्राक ४१२ मे
२. शालिभद्र रेलुआ — गा० ८ पत्रांक ४१४ मे
३ गुरावली रेलुआ — गा० १३ सोममूर्ति पत्राक ४३८
४. श्री जिनचन्द्रसूरि रेल्हुआ — गा० ८ चारित्रगणि पत्राक ४४०
५. जिनप्रबोध सूरि वर्णन (रेलुआ) गा० १० पद्मारत्न पत्राक

अब यहा इन रचनाओ का आद्य पद दिया जाता है, जिससे इसकी रचना व छद सम्बन्धी ठीक से पाठकों को परिचय मिल जायगा ।

श्री जिनकुशलसूरि रेल्हुआ आदि पद

धनु धनु जेल्हो मतिवरु, धनु जयतलदेविय इत्थीय गुणसंपुन्न ।
जीह तणइ कुलि अवयरिउ परवाइय गंजणो सिरि जिणकुशल मुणिंद ॥१॥
हलि हलि गुरु गिहिमोह मोल्हियइ जिणकुशलसूरि गुरु सेवियइ ।
लब्भइ जिन भव पारु ए ॥ अचली ॥

श्री शालिभद्र रेलुआ आदि पद

राजगृही उद्यानपति कमि वीरु समसरिउ धन एसउ सालिभद्र।
निय निय रिय मनु हरषियउ, त्रिभुवनगुरु पूछियउ वदाविसु सुभद्र ।१॥
तव तेय मुनि वेड पागुरिया धनु सालिभद्र
विहरण चालिया निय जणणि हाथि पारिसउ ॥२॥ आचली

गुरावली रेलुआ आदि पद

वसहिमग्गु जिणि पथडु करि सहि अणहिल पारणि वाइय जगि जसढक्क
सो जिणेसरसूरिगुरुरयणमणि झायहि जे नर ते संसारह चक्क ॥१॥
नर जुगपहाण गुरुवरिय हारु निय कंठि तउ तिय लोय सारू।
ए मुक्तिरमणि जियु तुम्ह वटेइ ॥ अंचली ॥

पवाड़ा संज्ञक रचनाएं

भारत का एक विशाल देश है। प्रारम्भ से ही यह अनेक प्रदेशों के समूह के रूप में विख्यात रहा है। जन परम्परा के अनुसार इसका भारत नामकरण भ. ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर हुआ है। भ० ऋषभदेव ने त्यागी जीवन स्वीकार करने से पूर्व अपने अन्य ९९ पुत्रों को अपना राज्य बांट दिया था। उन्होंने जिस जिस प्रदेश पर राज्य किया वह वह प्रदेश उसके नाम से प्रसिद्ध हो गया। समय समय पर शासकों के नाम बदलते गये, तथा इनकी संख्या घटती-बढती रही। जैनागमों में २५॥ आर्यदेशों के नाम पाए जाते हैं और बौद्ध ग्रन्थों मे १६ जनपदों का उल्लेख है। वैसे थोड़ी दूर पर भी रीति रिवाज आदि मे भिन्नता पाई जाती है अतः प्रदेशो में तो पारस्परिक भिन्नता अधिक मात्रा मे पाया जाना स्वाभाविक ही है। जैनागमों में १८ प्रकार की भाषाओ का भी उल्लेख है पर उनके नाम नही मिलते। वैसे मागधी मगध देश की, शौरसेनी— शूरसेन (मथुरा) प्रदेश की, महाराष्ट्री महाराष्ट्र की इस प्रकार भिन्न प्रदेशों की विशेषता को प्रधानता देकर उन प्रदेशों के नाम से ही भाषाओं के नाम प्रसिद्ध रहे है। वि० सं० ८३५ में रचित कुवलयमाला नामक जैन ग्रन्थ में तत्कालीन प्रसिद्ध १८ देशी भाषाओं के उल्लेख के साथ १६ भाषाओं की विशेषताओं के उदाहरण भी दिए गये है, जो हमारी प्रान्तीय भाषाओं की प्राचीन विशेषताओं पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

भारत की प्रधान प्रान्तीय भाषाओं के क्रमिक विकास का अध्ययन करने के लिये जैन साहित्य बहुत ही महत्वपूर्ण साधन है। जैनों का प्राचीन साहित्य अर्धमागधी प्राकृत में है जो कि ढाई हजार वर्ष पूर्व मगध तथा उसके आस पास के प्रदेश की भाषा थी। इसके बाद जब जैन धर्म का प्रचार शूरसेन महाराष्ट्रादि पश्चिमी तथा दक्षिण प्रदेशों की ओर बढ़ने लगा तो जैनाचार्यों ने इन प्रदेशों की भाषाओं में भी ग्रन्थ रचना प्रारम्भ की। जहां तक महाराष्ट्री भाषा के विकास-क्रम के अध्ययन का प्रश्न है, महाराष्ट्री प्राकृत में जैन साहित्य विपुल परिमाण में पाया जाने के कारण बहुत सी उपयोगी

सूचनाएं इन ग्रन्थो से मिल सकती है। पर खेद का विषय है कि महाराष्ट्री विद्वानों ने अभी तक इस ओर यथोचित ध्यान नही दिया है। प्राकृत के पश्चात अपभ्रंश भाषाएं लोक-सभा के पद आरूढ़ हुई। अपभ्रंश भाषाओं का अधिकाश साहित्य भी जैन विद्वानों की ही देन है। इन ग्रन्थों का भी भली भाति उपयोग होना चाहिए। कुवलयमाला में महाराष्ट्री की विशेषता इस प्रकार व्यक्त की है—

"दिण्णल्ले गहिल्ले उल्लविटे तत्थ मरहट्ठे।
पिअ-महिला-संगामे, सुन्दर गत्तेय भोइणे रोद्दे॥"

संस्कृत छाया—

'दिण्णल्ले गहिल्ले उल्लपतस्तत्र महाराष्ट्रीयान्।
प्रियमहिलासंग्रामान् सुन्दरगात्रांश्च भोगिनो रौद्रान्॥"

जैसा कि श्रीयुत प्रभाकरजी माचवे ने "कल्पना" के प्रथमाक में प्रकाशित अपने लेख मे लिखा है "प्रत्येक भाषा का अपना वैशिष्ट्य होता है, उसकी अपनी सांस्कृतिक परम्परा होती है। परन्तु जहा तक भारत की प्रान्तीय भाषाओं का सम्बन्ध है, उन सब में अपनी अपनी विशेषता होने पर भी सब मे एक सूत्रता और सामान्यता भी है।" वास्तव में आपके ये शब्द बहुत ही तथ्यपूर्ण हैं। वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं का विकास अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है, इसलिये छद, शैली, शब्दावली आदि की दृष्टि से ही नही, ग्रन्थो के नामकरण में भी प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य अपभ्रंश भाषाओं का बहुत ऋणी है। इधर दो तीन वर्षों से राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी, बंगला आदि के प्राचीन ग्रन्थों के नामो पर विचार करने की ओर ध्यान गया तो यह बात और भी स्पष्ट हो गई। अपभ्रंश काल में समान प्रकार के ग्रन्थो के नाम रखने की यह प्रथा चल पड़ी थी कि सब नामों के अन्त मे एक ही पद (यथा रासो, मंगल आदि) जोड़ा जाता था। इस प्रकार के 'नामान्त' पदो मे से एक का प्रचार एक प्रदेश मे हुआ तो दूसरे का दूसरे प्रदेश मे। राजस्थान एवं गुजरात की सीमा मिली होने से प्राचीन राजस्थानी एवं प्राचीन गुजराती एक ही भाषा के दो नाम समझिए। १५वीं शती से इनका पारस्परिक-भेद कुछ स्पष्ट होने लगा था। इससे पूर्ववर्ती दोनो प्रान्तों की लोक भाषा की रचनाओं मे विशेष भेद नही है। अतः नामान्त पदों की भी एकता स्वाभाविक ही है। फागु, विवाहला, रास, चोपाई, वेलि, सधि, सलोका, धमाल, धवल, बावनी सज्ञक

रचनाएं दोनों भाषाओं में पाई जाती हैं। हिन्दी भाषा में रास की संज्ञा रासो के रूप में प्रसिद्ध है। वैसे हिन्दी में मैनासत, हरिचन्द सत आदि सत नामान्त वाली रचनाओं की परम्परा भी अपभ्रंश साहित्य से ही आई है। बंगाल मे मंगल नामान्त वाले बहुत से काव्य मिलते हैं, तो हिन्दी एवं राजस्थानी मे भी रुक्मणी मंगल संज्ञक काव्य उपलब्ध है। इसी प्रकार महाराष्ट्री साहित्य मे शिवाजी महाराज के समय पवाडा नामान्त वाली रचनाओं का प्रचुरता से निर्माण हुआ। माचवेजी के उपर्युक्त लेख मे इनके सम्वन्ध मे यह कहा गया है—

"बामन पंडित और मोरोपंत जैसे पंडित कवियों के बाद मध्ययुगीन मराठी साहित्य की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता है "पोवाडो" नामक वीर काव्य। इसमें युद्ध या अन्य प्रसंग–विशेष के वर्णन, वीरों की जीवनियां और ऐसे ही ओजस्वी विषय रहते है। "शाहिरों" का एक पूरा फड (दल) इसे गाता है और लंबी कविता होने से उसमें प्रसंगानुसार गद्य भी आ जाता है। ऐमे प्रायः ३०० ऐतिहासिक पोवाड़े मिलते हैं। अज्ञानदास का "अफजल खा-वध" और तुलसीदास का 'तानाजी मालसुरे' ये दो छत्रपति शिवाजी काल के पोवाड़े बहुत विख्यात हैं। सन् ४२ मे ऐसे ही जनकाव्य इसी शैली में लिखे गये।'

"जनवाणी" के गत जनवरी के अंक मे प्रकाशित प्रो० महादेव सीताराम दूमरकर के "प्राचीन मराठी साहित्य" शीर्षक लेख मे भी उपर्युक्त आशय का ही वक्तव्य है। आपने लिखा है— सबसे पुराना पवाड़ा अग्निदास का मिलता है, जो अफजल खान के वध पर लिखा गया है। पवाडों की उत्पति धर्म मूलक है। प्रथम साधु सन्तों के चरित्रों पर बाद मे जब मराठे राजनीति मे अग्रसर होने लगे तब वीर मराठों के पराक्रम और बहादुरी पर गीत (पवाड़े) गाये जाने लगे। मराठों के साम्राज्य विस्तार के साथ पवाड़ों का क्षेत्र भी व्यापक होता गया। अग्निदास अपने ऊपर निर्दिष्ट अफजलखां के पवाडे में कहते हैं—

'यह सूरवीर पुरुषों का पवाड़ा शूरवीर ही सुनें।"

गयाप्रसाद एन्ड सन्स, आगरा से प्रकाशित तथा नारायण वासुदेव गोडवाले द्वारा लिखित "मराठी साहित्य का इतिहास" हाल ही मे मुद्रित हुआ है। उसके पृ० ७० से ७७ में पवाड़ों के सम्बन्ध मे कुछ विशेष वर्णन पाया जाता है। पर उसका सार यही

है कि मराठी भाषा मे पवाडे शिवाजी महाराज के समय से पहले प्राप्त नहीं है। श्री शिवाजी कालीन पवाडे भी ७-८ ही उपलब्ध है। ये १९वी शती में अधिक रचे गये। पवाडे वीर-गीत के रूप मे होने से महाराष्ट्री शब्द कोशादि मे पवाड़े का प्रधान, अर्थ ही 'वीराच्या पराक्रमाचे विद्वानाच्या ब्राद्धिमत्ते च, तसँच एखाद्याचे, सामर्थ्य गुण कौसल, इ काचे काव्यात्मक वर्णन, प्रशस्ति, स्तुति स्तोत्र पराक्रम कीर्ति'' दिया जाता है। अर्थात् वीरों के पराक्रम का वर्णन करने वाले काव्य के अर्थ मे पवाडा शब्द रूढ हो गया है।

यहा तक मराठी साहित्य मे पवाडो की प्रचुरता, लोक-प्रियता एवं प्राचीनता तथा शब्दार्थ पर विद्वानो के मत दिये गये। अब गुजराती एव राजस्थानी साहित्य में पवाडा शब्द किस अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है, इस पर विचार किया जायगा।

स० १४५३ के चैत्र सुदी १० को जाखो मणिहार रचित हरिश्चद पुराण कथा के प्रारम्भ में दो वार 'पयडो' शब्द व्यवहृत पाया जाता है—

सुद्धि बुद्धि मति देकर करउ पसाउ
ज्यू धुरि पयडो हरिचन्द्र राउ।

तथा—

करू कवित मत लावो वार,
सत हरिचद पयडो ससार।

जहाँ तक पवाडा सज्ञक रचनाओं की प्राचीनता का सम्बन्ध है— सर्व प्रथम जैनाचार्य हीरानन्द सूरि के स० १४८५ मे रचित विद्याविलास चरित मे उसे पवाडो की सज्ञा दी गई है।

विद्याविलास नरिंद पवाडो, हइडा भीतर जाणी।
अंतराइ विण पुण्य करो तुम्हि, भाव ओणरो आणी॥

यहाँ पवाडो शब्द चरित काव्य के अर्थ मे प्रयुक्त है। विद्याविलास की कथा वीर रसात्मक नही है, अपितु इस वचन के अनुसार प्रम और कौतुक रस प्रधान है। अतः उस समय तक 'पवाडो' शब्द वीर गीत के अर्थ मे रूढ नहीं हुआ था, यह स्पष्ट है।

इसके परवर्ती उपलब्ध पवाडा जैन कवि ज्ञानचन्द द्वारा रचित वकचूल पवाडो है, जिसकी रचना स० १५६५ मे मागरोल काठियावाड में हुई।

पव्वाडउ पोढउ हवइं करवाछि कवि खंति ।
वंकचूल गुण वर्णवूं, श्रवणि सुणउ इकचिति ॥

× × ×

न्याय भणइ कूणि पर कइं, पव्वाडउ परचंद ।
वंकचूल रा वर्णविउ, एक पणि परिखंड ॥
इति वंकचूल पव्वाडउ विभ्रवासिनि
देव्या वर लब्ध प्रथम खंड ।

× × ×

न्यायचंद कहि नृति करी, बांधू बीजू खंड ।
बंकचूल किम वर्णवूं, परवाडउ परचंड ॥

वंकचूल की कथा धार्मिक कथा है । यह भी वीरकाव्य नहीं है ।

इसके पश्चात १७ वीं शती के सांईया झूला रचित नागदमण नामक प्रसिद्ध काव्य के प्रारम्भिक पद्य में पवाडउ शब्द प्रयुक्त है ।

पवाडउ पन्नगा हरस......

राजस्थान में लोक काव्य के रूप में पाबूजी के पवाड़े बहुत प्रसिद्ध हैं । इनकी रचना का निश्चित समय तो ज्ञात नही पर संभवतः १७वीं शती होगा । १८वी शती के प्रारम्भ में जोधपुर के मन्त्री लधराज ने अपने देवी–विलास ग्रन्थ में पवाड़ा शब्द का निम्नोक्त पद्य में व्यवहार किया है :—

तेण पवाड़ा माहरा, वाणी देव बखाण ।
तुछ मती हुई में हिवं, भाषा तिण परवांण ॥

'पाबू जी के दोहों को भी सभी लेखकों ने पाबूरा पवाडा लिखा है पर उक्त रचना में कहीं पवाड़ा शब्द का प्रयोग देखने में नही आया ।

अभी हाल में मुझे बम्बई के गोडीजी मन्दिर में स्थित स्व० जैन साहित्य महारथी श्री मोहनलाल देसाई के नोट्स आदि देखने का सुअवसर मिला । उनमे पवाड़ा के सम्बन्ध मे भी एक टिप्पण मुझे मिला, जिसमें कुछ विशेष जानकारी प्राप्त हुई ।

देसाई महोदय ने कई गुजराती, हिन्दी, महाराष्ट्री एवं इंग्लिश कोशों से पवाड़ा शब्द के अर्थ उद्धृत करते हुए अपना मत यह दिया है कि पवाड़ा शब्द संस्कृत

शब्द प्रवाद से निकटवर्ती है।*

देसाई महोदय ने अनेक ग्रन्थो से उद्धरण भी संगृहीत किये है, जिनमें पवाडा शब्द का प्रयोग हुआ है। सबसे प्राचीन १३ वी शती का है। इस उद्धरण से पता चलता है कि गुजरात एव राजस्थान में पवाडा शब्द कीर्ति गाथा और चरित्रकाव्य के लिये प्राचीन काल से प्रचलित चला आता है। पवाड़ा सज्ञक लोक काव्यों की प्रचुरता के कारण यह शब्द गेय छद विशेष— देशी के अर्थ में भी प्रसिद्ध हो गया था। महाराष्ट्र में पवाड़ों की रचना बहुत पीछे हुई है।

कवि आसाईत की 'हंसाउली' नामक रचना जिसका रचनाकाल प० केशवराम शास्त्री के मतानुसार स० १४१७ या २७ है और मंजुलाल मंजमुदार ने स० १४७१ बतलाया है, उसके अन्तिम पद्य में उसका नाम 'पवाडु' भी मिलता है। यथा—

"संवत १४ चउद चक्रमुनि शंष, वछ हंसवर चरित असंष।
बावन वीर कथा रस लीउ, एह 'पवाडु' आसाईत कहिउ ॥१२०॥"

प्रस्तुत रचना की एक प्रति में उपर्युक्त पद्य लिखा है, अन्य प्रतियों में इससे भिन्न पाठवाला पद्य है।—

इसी प्रकार स० १५१२ मे पद्मनाभ कवि रचित "कान्हडदे प्रबन्ध" की प्रतियों की लेखक प्रशस्ती मे उसका नाम "राउल कान्हड़ दे पवाडु रास" मिलता है।

---

*१ प्रवाद का अर्थ आप्टे संस्कृत अंग्रेजी कोश के अनुसार Talk, Report, Rumour Popular Saying or Belief सूचना, किवदन्ती, कहावत अथवा लोक विश्वास है।

2. Pawada or Panwadam. A panegyric or encomiastric piece in a kind of alliterative poetry recoventing the achievements of a warrior, the tatents and attainments of a scholar, or the powers, virtues and excellencies of a person Sen. (Moleswortlie Marathi English Dictionary. 1857)

3. Pawado S. (Substantive) m. (Masculine) An epic poem, ? Satire, Slander 3. Useless talk, Babbling (Mehta's Modern gujrati English Dictionary 1925)

४, पवाडा, पवाडा, पवरा, संज्ञा पुलिंग देशज (संस्कृत प्रवाद) लंबा चौडा या विस्तृत इतिहास कथा, व्यर्थ विस्तार से कही हुई बात, गीत (भाषा शब्द कोष)

सं० १५९३ में वीठू सूजा की रचना रावजैतसीरो छंद" वास्तवमें पवाड़ा ही है। उसके पद्यांक तीन और चारसो एक में 'प्रवाड़ा', "प्रवाड़ो" शब्द प्रयुक्त है।

(१) सोहिया प्रवाड़ा सिङ्ग सीस।
जम्बुग्रह दीप जग्गी जगीस ॥३॥

(२) काबिली थट्ट दहवट्ट किय वीकाहर राइ बघरू
जइतसी प्रवाड़उ, किय जमा जाम

१७ वीं शताब्दी के पद्मा तेली रचित रुक्मिणी व्यावलो की सं० १६६९ की लिखी प्रति हमारे संग्रह में है— उसके पद्यांक २३ व २४ में 'पवाडा' और "पुवाड़इ" शब्द का प्रयोग हुआ है—

"हरि अवतार पवाड़ा कीधां तेता सहूई जांणु।
जुग अन्तर आगै अवतरीया, तेहनउं पार न जांणु ॥२३॥
प्रथम पुवाडइ पूतना सोखी, ? र दलीयो मुंसाल।
अेहरि नई आगई दावानल, दांणव नइ कुलि कालि ॥२४॥

पाबू जी के पावड़े की भाति निहालदे सुल्तान का विस्तृत पवाड़ा लोक काव्य संगृहीत किया जा चुका है, जिसका कुछ अंश मरु-भारती में प्रकाशित हो चुका है।

'सत' संज्ञक रचनाएं

विश्व में प्रकृति और प्राणियों की निर्मित वस्तुओं की सख्या अनन्त है। व्यवहारिक सुविधा के लिए उन वस्तुओं का पृथक् करण भिन्न-भिन्न नामों द्वारा किया जाता है। इस तरह नामों की संख्या भी असख्य हो जाती है। साहित्य की रचनाओं में भी शैलियो व विषय आदि की विभिन्नता के कारण उसके अनेक प्रकार हो जाते है। उनकी पृथक-पृथक संज्ञाए देना आवश्यक हो जाता है। उनमें से वहुत से नाम तो परंपरागत (सैकड़ों वर्षो तक रचयिताओं द्वारा) समादृत पाये जाते हैं तो कुछ नये नामो की भी सृष्टि होती रहती है और पुरारानी संज्ञाएं भुला दी जाती है। हमारी प्रान्तीय लोक-भाषाओं में रचित रचनाओं की सज्ञाए भी सैकडों की संख्या में है जिनमें से कुछ संज्ञाएं प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि की प्राचीन रचनाओं के अनुकरण मे रची गई हैं और कुछ लोक साहित्य से ले ली गयी हैं, नागरी प्रचारिणी पत्रिका के गत वर्ष ५८ अंक ४ मे प्रकाशित "प्राचीन भाषा काव्यों की विविध संज्ञाए" शीर्षक अपने निवन्ध मे जैन कवियो द्वारा रचित राजस्थानी और गुजराती भाषा की प्राचीन काव्य रचनाओं की ११५ संज्ञाओं का उल्लेख करते हुए करीब ८० रचनाओं के सम्बन्ध में सक्षेप मे प्रकाश डाला गया है, इन संज्ञाओं के अतिरिक्त और भी अधिक संज्ञाओ वाली रचनाऐ मिलती हैं जो राजस्थानी और गुजराती भाषा के काव्य के नामान्त पद के रूप में विशेष प्रयुक्त न होकर हिन्दी भाषा के काव्यो के नामान्त पद के रूप मे विशेष व्यवहृत हुई हैं। "सत" संज्ञा भी ऐसी ही है। इस नामान्त वाली प्राप्त रचनाओं का परिचय कराना ही प्रस्तुत लेख का विषय है।

बारहमासा, रास 'चरचरी, मातृका' कक्का (अखरावट) आदि संज्ञाए जिस प्रकार अपभ्रंश काल से हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती मे परंपरागत चलती आ रही हैं 'सत-संज्ञक" रचनाओं का स्रोत अपभ्रंश काल से ही चलता आया है। अतः सर्वप्रथम इस संज्ञावाली अपभ्रंश रचना का परिचय देकर फिर हिन्दी काव्यों मे इसकी जो परंपरा रही है इसे बतलाया जावेगा।

पाटण के संघवी पाडे के जैन ज्ञान भंडार में ताड़पत्रीय संग्रह प्रतिया हैं। इन में से नं० ५६ मे सतरहवी रचना सीतासत नामक है। जिसका विवरण गायकवाड़

ओरीऐंटल सिरीज" से प्रकाशित पत्तनस्थप्राच्य जैन भंडागारीय ग्रन्थ सूची भाग १ के पृष्ठ ४५ में इस प्रकार मिलता है (१७) सीतासत अपभ्रंश पत्राक ४७ से ४६ गाथा २०

प्रारंभ — पूरवि दशरथु जणिय श्रे वर मागेअि ।

रज्ज भरह दियाविय श्रे, राव म) लक्खण संजत ॥

अन्त — पागि लागी मनाविय श्रे, स्वामि महु एक अवराहु ।

र (ा) मु राहक एक भणए, लइले सजम भाउ ।

दिवि दुदुहि वाजियए, चलिय स सीतासत ॥२०॥

प्रस्तुत प्रति सीतासत रचना तेरहवी चौदहवी शताब्दी की प्रतीत होती है इस लिए 'सत' संज्ञक रचनाओं की परम्परा करीब सात सौ आठ सौ वर्ष जितनी प्राचीन सिद्ध होती है। इस रचना मे सीता के सत सत्व शील गुण की चर्चा होने मे इस रचना का नामान्त पद 'सत' रखा गया है। परवर्ती रचनाओं मे भी इसी अर्थ में यह संज्ञा और जैन जैनेतर, हिन्दू, मुसलमान सभी कवियों ने अपनायी है जिसका पता आगे दिये जाने वाले काव्यों के विवरण द्वारा पाठकों को भली भांति मिल जाएगा।

सीता सत के परवर्ती हिन्दी साहित्य की 'सत' संज्ञक रचनाओं मे सबसे पहली रचना कवि साधन रचित "मैनासत" है इसमें मैना नामक एक सती स्त्री ने अनेक प्रलोभनो से बचकर किस प्रकार अपने शील की रक्षा की' उसका विवरण दिया गया है। इस रचना की तीन हस्तलिखित प्रतियों की चर्चा डा० माता प्रसाद गुप्त ने अवन्तिका के गत जुलाई अंक मे की है। सर्व प्रथम इस रचना का पता (१) जोधपुर के राजकीय लाइब्रेरी की प्रति सन् १९०२ की खोज रिपोर्ट प्रकाशित विवरण से हिन्दी जगत को मिला। (२) चतुरभुज दास के मधुमालती के संस्करण में "मैना सत" की कथा एक साक्षी कथा के रूप में पाई जाती है और अभी अभी प्रो० एम० एस० अश्करी ने एक (३) प्राचीन प्रति का विवरण बिहार रिसर्च सोसायटी के जर्नल के मार्च-जून के अक में प्रकाशित किया है। इन तीनों पाठ समस्याओं पर डा० माता प्रसाद गुप्त ने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि एक दो प्रति के आधार से भाषा के सम्बन्ध में निर्णय करना ठीक न होगा। अतः इस ग्रन्थ की अन्य तीन प्रतियों की जानकारी यहां दे देना आवश्यक समझता हूं। नवीन जानकारी के रूप में प्राप्त प्रतियों में से प्रथम प्रति का विवरण अब से सात वर्ष पूर्व मैंने अपने "राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज" के द्वितीय भाग के पृष्ठ ८१ मे प्रकाशित किया था पर वह डा० गुप्त जी के अवलोकन मे आया नही प्रतीत होता

मेरा दिया गया विवरण इस प्रकार है :—

(११) मैना का सत —

प्रथमहिं विनउं सिरजन हारा, अलख अगोचर मया भडारू ।
आस तेरि मोहि बहुत गुसाईं, तोरे उर कावो वरदे की नाओं ।
शत्रु मित्र सब काहु सभाहै, भुगत देहि काहु न बिसारैं ।
फूलिज रही जगत फुलवारी, जो राता सो चला संभारी ।
अपने रंग आप रंगराता, बूझे कौन तुम्हारी बाता ।

दोहा — बन्धन आखिर मारियों, अेको चरित न सूझि ।
सोवत सपनों देखिओं, काअु केर कछु बूझि ।।

अंत— मैना मालिन निया बुलाइ, धरि झांटा कुटनी निहुराओ,
मुंड मुडाओ कैसे दुरदीने, कारे पीरे मुख टीका लीने ।।
गदह पलानी के आन चढाओ हाट हाट सब नगरी फिराओ ।
जो जैसा करे सु तैसा पावे, अिन नातन का अनखु न आवे ।
अगे दिअे जो जो रहवाना, कोदो बोये कि लुनिये धाना ।।

दोहा — सतु मैना का साधिन, थिर राखा करतार ।
कुटनी देस निकारी, कीनी गंगा के पार ।।
इति मैना का सत समाप्त लेखन काल १८ वी शताब्दी ।

प्रति गुटकाकार पत्र ५०।। से ६७ पक्ति १३। अक्षर १३। (अभय जैन ग्रंथालय वि० गुटका)

विशेषः — मालिन ने मैना को सत (शील) च्युत करने का प्रयत्न किया पर वह अटल रही बीच में १२ मास का वर्णन है।

दूसरी और तीसरी दो प्रतियाँ अनूप सस्कृत लाईब्रेरी बीकानेर मे है जिनका जिनका विवरण इस प्रकार है —

गुटका नं० ७६ (च) मैना सत रचयिता मिया साधन पत्र १० से १७ तक लिखित —

यह प्रति स० १७२४ से २७ तक की लिखित है। इसका विवरण राजस्थानी ग्रथो के अन्तर्गत राजस्थानी ग्रंथ सूची मे छपा है। इस प्रति का न० ११७ है। प्रति अभी मेरे सामने नही है पर इसके विवरण से मालूम होता है कि इसका पाठ अशुद्ध सा है।

प्रति के विशेष विवरण में लिखा गया है पुस्तक जीर्ण अवस्था में है बहुत से पत्र खंडित है, आदि और अन्त अप्राप्त है, लिपि सुवाच्य नही है।

इस प्रति के पत्र ५६ से ७१ मे मैना सत लिखा हुआ है। विवरण में प्रति के अशुद्ध पाठ के अनुसार जिसे 'मिना सतमी' रचयिता "आस धान" लिखा है।

खोज करने पर एक दो प्रतियां और भी मिल सकती है। प्राप्त प्रतियों के आधार से इस छोटे से ग्रंथ का सुसंपादित संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित होना आवश्यक है। ग्रन्थ के मगलाचरण और अनूप संस्कृत लाइब्रेरी के सूचीपत्र मे "कर्ता-मियां साधन" नाम छपा है, इससे इसका रचयिता मुसलमान कवि है। डा. असकरी को प्राप्त प्रति से भी इसकी पुष्टि होती है व साथ ही यह रचना १६ वी शताब्दी की ज्ञात होती है। अवधी भाषा की एक प्राचीन रचना होने के नाते भी यह शीघ्र प्रकाशन योग्य है।

सत संज्ञक तीसरी रचना – सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यानी कविवर "जान" रचित "सतवंती सत" है। जिसका सर्वप्रथम विवरण सुन्दर ग्रन्थावली, हमारे सपादित राजस्थानी भाग ३ अंक ४ के पृष्ठ १६ मे सन् १६४० मे प्रकाशित हुआ था। जिसकी अनूप सस्कृत लाइब्रेरी मे हस्तलिखित प्रतिया मिलती हैं। स० १६७८ मे इसकी रचना हुई। इसकी कथा इस प्रकार है।

मनसूर एक व्यापारी है। इसकी स्त्री का नाम सतवती है। वह रूपवती और पतिव्रता है। मनसूर अपने मित्रों के साथ व्यापार के लिए विदेश जाता है। उसकी स्त्री विरह मे दुःखी होती है। कुछ दिन बीतने पर एक धूर्त ने उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर उसे अपने वश में करना चाहा, उसने आकर्षित करने के लिए एक दूती को (सतवंती के यहा) भेजा पर वह हार व मार खाकर लोटी। सतवन्ती अपने शील में अविचल रही। धूर्त लम्पट किसी मत्रवादी की सेवा कर उससे रूप परिवर्तिनी विद्या सीख लेता है और मनसूर का रूप बनाकर सतवन्ती के यहां आता है। सतवन्ती को सन्देह होता है इसलिए कुछ दिन तक वह उसे टालती रहती है। इतने में ही इसका वास्तविक पति मनसूर आ जाता है। दोनों एक दूसरे को नकली बताते है। समान रूप वाले होने से लोग निर्णय नहीं कर पाते, न्याय के लिए वे राजसभा मे राजा के पास पहुँचते हैं। राजा उन दोनों से और सतवन्ती से इनके विवाह की तिथि लिखवा लेता है। सतवन्ती और मनसूर की तिथि एक मिलने पर धूर्त लम्पट को प्राणदण्ड मिलता है।

हिन्दुस्तानी (राजस्थान मे हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज भाग ३) भाग १५

अंक १ में कवि जान की रचनाओं का विवरण प्रकाशित हुआ है। उसके अनुसार इस कथा का विस्तार ५२ दोहे और चौपाई है। कवि जान ने इसी तरह की अन्य तीन सती स्त्रियों के सतीत्व रक्षा के वर्णन वाली रचनाए शीलवन्ती, कुलवन्ती और तमीम असारी क्रमशः संवत् १६८४, १६९३ और १७०२ मे बनाई है। जिस प्रति मे यह रचनाए प्राप्त हुई है उसमे इसका नामान्त "सत" नहीं लिखा गया प्रतीत होता है पर रचनाओ के विषय और शैली को देखते हुए इनकी गणना भी सत संज्ञक काव्यो मे ही होनी चाहिए। इन रचनाओं की अन्य प्रतिया प्राप्त होने पर संभव है यह संज्ञा लिखी हुई भी मिले।

४थी और ५वी "सत संज्ञक रचना" — जैन कवि भगवतीदास रचित 'वृहद् सीता सतु" और "लघु सीता सतु" है; दोनो महासती सीता के सत्य का विवरण देने वाली हैं। पहली रचना सं० १६८४ मे रची गयी। उसी को संक्षिप्त करके संवत् १६८४ के चैत्र शुक्ला ४ सोमवार के दिन भरणी नक्षत्र में सीहरदि शहादरा दिल्ली नगर में बनाई गई। इस ग्रन्थ मे बारहमासा के मंदोदरी सीता प्रश्नोत्तर रूप मे कवि ने रावण और मंदोदरी का चित्रण किया है। रचना सरल, हृदयग्राही व रुचिकर है। इसका विवरण 'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण १-२ के पृष्ठ १५ में प्रकाशित है। पचायती मन्दिर दिल्ली के सरस्वती भंडार के गुटके मे यह लिखित रूप मे मिली है।

उपर्युक्त दोनो 'सीता सत' के रचयिता कवि भगवतीदास बूढ़िया (जिला अम्बाला) के निवासी थे। ये अग्रवाल कुल के वसल गोत्रीय थे। दिल्ली के भट्टारक महेन्द्रसेन के शिष्य थे। ये बूढिया से दिल्ली आकर रहने लगे थे। कुछ समय हिसार मे भी रहे थे। इनके रचित "अनेकार्थ नाम माला" (स० १६८७ देहली में रचित) और 'मृगाक लेखा चरित्र' प्राप्त है। अन्तिम ग्रन्थ की रचना सं० १७०० मे हिसार में हुई है। विशेष जानकारी के लिये अनेकान्त वर्ष ५ अंक १-२ और .र्ष ७ किरण -६ देखना चाहिए।

सत संज्ञक छठी रचना 'हरिचन्द सत' है। जो ध्यानद.स द्वारा संवत् १८०० के लगभग में रची गई है। इसका विवरण राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के तृतीय भाग के पृष्ठ २१६ मे इस प्रकार मिलता है:—

(७८) हरिचन्द सत रचयिता ध्यानदास। यह तीन अध्यायो मे विभाजित है। प्रथम अध्याय में ११९ पद्य हैं। द्वितीय मे १२१ और तृतीय मे १००। दोहे १४, सोरठे २, छंद ४ और चौपाईया ३२० है। कुल पद्य संख्या ३४० होती है। ग्रन्थ का विषय सत्य हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा है। इसका रचनाकाल कवि ने इस प्रकार दिया है 'उदधि

दोत कर लीजिये, लेखन भार अठार" इसके अनुसार सं० १८२४ या १८४२ रचनाकाल ठहरता है। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे राजा का राज्यत्याग और काशी में आगमन, द्वितीय अध्याय में पुत्र रानी व राजा का वियोग, पुत्र और रानी का अग्नि शर्मा के यहां और राजा का डोम यहा निवास। तृतीय अध्याय में रोहित की मृत्यु और शेष घटनाए हैं।

सत्य हरिश्चन्द्र के सत्य के महात्म्य को प्रगट करने वाली होने से ही इसका नाम हरिचन्द चरित ग्रंथकार ने रखा है। कई प्रतियो में उसका नाम हरिचन्द सत लिखा मिलता है। इसी प्रकार सतवन्ती सत की कई प्रतियों में सतवन्ती की वार्ता भी लिखा मिला है। पर वास्तव मे ये सब परम्पराऐं एक ही परम्परा एव विषय की हैं इसलिए इनका नामान्त पद 'सत' ही उचित है व सही है।

इस प्रकार 'सत' संज्ञक रचनाओ की परम्परा करीब ५०० वर्षों से चलती प्रतीत होती है।

सत संज्ञा शब्द का व्यवहार अनेक जगह शत् अर्थात शतक सौ पद्योंवाली रचना के सूचक अर्थ में भी पाया जाता है। वृन्दावन सत्, शृंगार सत, विरह सत आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं।

राजस्थानी साहित्य के संवाद ग्रन्थ

बौद्धिक विचार और तत्व निर्णय के अनेक साधनों मे वाद विवाद का भी बड़ा प्रमुख स्थान है। "वादे–वादेजायते तत्वबोध" (वाद-विवाद करने से वास्तविक तत्व हाथ लगता है) किन्तु यह वाद–विवाद जब कुछ जानने की इच्छा से किया जाता है तब तो वह उपयोगी होता है। किन्तु जब केवल अपनी विद्वता का प्रदर्शन करने अथवा दूसरों को नीचा दिखाने के लिये वाद-विवाद किया जाता है, तब वह वितंडावाद का रूप धारण कर लेता है। उससे किसी तत्व का निर्णय नही हो पाता। वह केवल वाग्जाल-भर बनकर रह जाता है।

जिज्ञासा उत्पन्न होने पर उसका समाधान करने के लिये उसके विशेषज्ञ से उसका उत्तर प्राप्त करने के लिये प्रश्नोत्तर की शैली के संवाद, वैदिक युग से लेकर समस्त प्राचीन साहित्य में निरन्तर प्राप्त होते है। बौद्ध और जैन साहित्य में धर्म तत्वो का निरूपण इसी प्रश्नोतरी शैली में किया गया है। किन्तु मध्यकाल मे कवियों ने विनोद के रूप में कुछ वस्तुओ और अवस्थाओं को व्यक्तिगत मानकर उनसे संवाद कराये हैं।

बहुत से लेखकों ने ऐसी विरोधी वस्तुओं का परस्पर संवाद कराया है। जिनमें से एक ने अपने गुणों का उत्कर्ष और दूसरे ने उसका खंडन करके अपना महत्व स्थापित करने के सम्बन्ध में तर्क दिये हैं। इस प्रकार के संवाद मूलतः हमें दार्शनिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं किन्तु मध्यकाल के लेखकों ने केवल अपने बौद्धिक चमत्कार से कुछ वस्तुओं को वादी प्रतिवादी का रूप देकर प्रत्येक वस्तु के महत्व, दूसरे की दृष्टि मे उसके दोष और कहनेवाले की विशेषता का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। ऐसी रचनायें अधिकांश जैन विद्वानों की है। समन्वयवादी होने के कारण इन जैन विद्वानों ने अन्त में इन कल्पित पात्रों का परस्पर मेल करा दिया है। ये रचनायें छोटी होने पर भी काव्य चमत्कार की दृष्टि से अत्यन्त ललित है और कवि की संजीवनी प्रतिभा के अद्भुत उदाहरण हैं।

यद्यपि इनकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों में प्रसंगतः इस प्रकार के संवाद आये हैं। तथापि ऐसी रचनायें सोलहवी शताब्दी से ही

संस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं मे प्रचुर प्रमाण में प्राप्त होने लगी हैं। स्वतन्त्र रचनाओं मे विशेषतः लोक भाषा मे प्रचलित एक कृपण नारी संवाद हमें संवत् १४३७ का लिखा हुआ प्राप्त हुआ है, जो अभी तक प्राप्त और ज्ञात संवाद रचनाओं मे सबसे प्राचीन कही जा सकती है। किन्तु वास्तव मे इस प्रकार की रचनाओं का विकास सोलहवीं शताब्दी से ही हुआ है। यद्यपि बहुतसी पूर्ववर्ती रचनाओं में ऐसे संवाद बीच बीच में ग्रंथित किये मिलते है। जैसे "राजस्थान रिसर्च सोसाइटी" कलकत्ता के राजस्थानी नामक पत्र के (भाग ३ अंक ३) में "भाषाओं के चार प्राचीन उदाहरण" शीर्षक से हमने चौदहवी शताब्दी की एक रचना प्रकाशित की है जिसमें गूजरी, मालवी, पूर्विली और मराठी चार स्त्रिया अपनी अपनी बोलियों में बात चाल या संवाद करती हैं। इस संवाद मे सबने अपने अपने देश की विशेषता और महत्ता का प्रतिपादन किया है। यह संवाद कवि ने शत्रुंजय जैन तीर्थ पर यात्रा के लिये आई हुई श्राविकाओं से कराया है। इस परम्परा का प्रभाव परवर्ती जैन रचनाओ पर भी पड़ा है। मरु-भारती (वर्ष २ अक ३) मे देपाल कवि रचित जीरापल्ली पार्श्वनाथ रास हमने प्रकाशित कराया है। जिसमें जीरापल्ली तीर्थ पर उपस्थित मालव, मारवाड़, सिन्ध, सोरठ तथा गुजरात इन पांच देशों की स्त्रिया अपने अपने देश की विशेषताओ का वर्णन करती है। अन्त में नागौर की एक श्राविका आकर उन सबका विवाद समाप्त करके उन्हे पूजा मे सम्मलित कर लेती है। पन्द्रहवी शताब्दी की राजस्थानी भाषा की यह अत्यन्त सुन्दर रचना है।

सोलहवी शताब्दी से जो स्वतन्त्र सम्वाद रचनायें प्राप्त होने लगती हैं उनमे तीन चार कवियों की रचनायें अत्यन्त रोचक है। जिनमे से विक्रमपंचदंडकथा और नन्दबत्तीसी आदि के रचयिता कवि नरपति का जिह्वदात संवाद और सुखड चंपक संवाद स्वर्गीय मोहनलाल दलीचद देसाई के संग्रह मे हैं। इनमे से दंतजिह्वा संवाद को डाक्टर भोगीलाल साडेसरा ने सम्वत् १६४७ के गुजराती के दीपोत्सवी अंकों में प्रकाशित किया था। यह संवाद दश पद्यों मे है जिसमें से पाच मे तो दांत और जीभ ने अपनी महत्ता सिद्ध की है और आठवे में दात ने जिह्वा से वाद विवाद शात करने को कहकर दोनो का परस्पर मेल करा दिया है।

इससे परवर्तीय रचनाओ मे कवि सहज सुन्दर का (१५७२-१५९५) आंख कान संवाद और यौवन जरा सवाद है, जिसमे २५ छप्पय है। दूसरी रचना आख कान सवाद ५ त्रोटक छंदों मे है। कथा यों है कि शत्रुंजय मे प्रभु का दर्शन करते समय कान

और आख दोनों अपना अपना महत्व प्रदर्शित करते हैं, किन्तु अन्त में दोनों परस्पर मेल कर लेते हैं। क्योंकि आख के द्वारा प्रभु का दर्शन होता है, और कान से प्रभु की भक्ति के गीत सुने जाते हैं।

इस शताब्दी के प्रसिद्ध कवि लावण्यमय की तीन संवाद रचनायें मिलती हैं (१) रावण मदोदरी संवाद (सं० १५६२) में ६३ पद्य है। (२) कर संवाद (सं० १५७५) शान्ति नगर मे ६६ पद्यों में रचा गया (३) गोरी सांवली गीत संवाद ६३ पद्यों में लिखा गया है इसमे से पहिले में सीता हरण के पश्चात रावण को मन्दोदरी समझाती है और उनका संवाद चलता है। इसी नाम का श्रीधर का रचा हुआ एक संवाद भी प्रकाशित हो चुका है जिनकी प्रत्येक पंक्ति में एक एक कहावत गुंथी गई है। यह रचना सं० १५६५ में जूनागढ़ (जीर्णदुर्ग) मे हुई। यह कवि मोढ अडालजा जाति के मंत्री सडसा के पुत्र थे। फार्बस गुजराती सभा बम्बई ने मांडन रचित प्रबोध बत्तीसी के साथ विस्तृत टिप्पणियां सहित यह सम्वाद प्रकाशित किया है।

लावण्यसमय की दूसरी रचना कर संवाद में प्रसंग यह है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को बारह महीने से अधिक समय तक आहार नही मिला। बैसाख बदी ३ (अक्षय तृतीया) को उन्होने वार्षिक तप का पारणा करने के लिये दोनों हाथों की अंजला में इक्षुरस ग्रहण किया। इसी के आधार पर कवियों ने कल्पना से दायें और बायें हाथ में परस्पर सुन्दर संवाद उपस्थित किया है। दाहिना हाथ अपनी विशेषता का बखान करते हुए बायें हाथ से भिक्षा माँगने के लिये कहता है तब बाया हाथ अपनी विशेषताओं का वर्णन करके दाहिना हाथ को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। अन्त मे भ० ऋषभदेव के मुख से कहलवाया गया है कि सभी का अपना अपना महत्व है, अतः दोनों के मिलने से कार्य सिद्धि हो सकती है। यह सुनकर दोनों हाथ अपना विवाद समाप्त करके ऋषभदेव श्रेयांशकुमार का बहराया हुआ इक्षुरस दोनों हाथों की अंजलि में ग्रहण करके पारण करते हैं। अठ्ठारहवी शताब्दी के कवि अभयसोम ने यह संवाद विस्तृत रूप से रचा जिसका परिचय आगे दिया जायगा। अठ्ठारहवी शताब्दी के ही सुप्रसिद्ध कवि लक्ष्मीवल्लभ ने अपनी कल्पसूत्र की कल्पद्रुम कलिका नामक टीका में ऋषभ चरित्र के उपप्रसंग में संस्कृत मे कर संवाद किया है।

१६ वी शताब्दी की रतनमडन द्वारा रचा हुआ एक संवाद सुन्दर नामक संस्कृत संवादें समुच्चय भी रचा गया। जिसमें (१) शारदपद्मयोः संवादः (२) गांगेय-

गुंजयोः संवादः (३) दारिद्रयपद्मयोः स वादः (४) लोक लक्ष्म्याः संवादः (५) सिंही हस्तिन्योः सनन्दनयोःसंवादः (६) गोधूमचणकयोः संवादः (७) पंचानामिंदियाणा संवादः (८) मृगमदचंदनयोः संवादः (९) दानादि चतुष्क संवाद— ९ संवाद लिखे है। यह ग्रन्थ हीरालाल हसराज ने जामवनगर से सं० १९७५ मे प्रकाशित कराया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत में और भी कई फुटकर संवाद रचे हुए मिलते हैं। कविवर्य समय-सुन्दर ने अपने "कथा कोष" ग्रन्थ में पचानाम इद्रियानाम संवाद— (१) दानादि चतुष्क संवाद, (२) लक्ष्मी भाग्य संवाद, (३) संस्कृत मे दिये हैं। ज्ञानक्रिया संवाद आदि की भी फुटकर प्रतिया मिलती हैं।

सत्रहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के सुख विहारीकलश के दो संवाद हमारे संग्रह मे है। १. मोतीकपासिया संवाद २५ दोहा में सं० १६६२ मे माघ सुदी १५ को मरुधर देश मे (सम्भवत. नागौर मे) इसकी रचना हुई। इस संवाद में मोती और कपासिये ने अपनी अपनी विशेषताओ का वर्णन किया है। दूसरी रचना "जीभ दांत संवाद" है, जो सम्वत् १६६४ के मिगसर मे बीकानेर मे ४१ पद्यों मे रचा गया। हमारे संग्रह की समकालीन लिखित प्रति मे पहले के दो पन्ने नही है। अतः इस संवाद के प्रारम्भिक १५ पद्य प्राप्त नही हुए। नामानुसार इसमे जीभ दांत का वाद तो है ही पर मध्य मे कुछ अन्य वादों का भी उल्लेख है, जो इससे पूर्व रचे हुए जान पड़ते है।

वादिया आगे दिन रैण, वादिया माटी वैर
वादिया सायर नइ नदि, वादियाआबा कइयर— २
वादिया कंचन चिरमठी, वादिया फोफल पान
वादिया मोती काकड़ा वादिया घी नाई धन— ३०...
वादिया वाणिज करसणी, वादिया धर्म अधर्म
वादिया मानव नइ सरग, वादिया उद्यम कर्म ॥ ३१ ॥
द्दिम श्रेयंस परि रिसह कर, वादी लोधौ दान
अथवा शत्रुंजय जात मिसि, वादिया आखिर कान ॥ ३२ ॥
इम अनेक वादिया सही, तिहि समधा अन्ति
तिम तुम इसडा साथि मिलि, प्रीति घरउ ऐ तंन्ति ॥ ३३ ॥

अर्थात् इससे पूर्व दिन और रात १. पति और पत्नि २. समुद्र और नदी ३. आबा और कैर ४. कंचन और चिरमठी ५. फोफल और पान ६. मोती और काकड़ा

७ घी और धान ८. वाणिक और कृषक ९. धर्म और अधर्म १० मनुष्य और देव ११. उद्यम और कर्म १२. दोनो हाथ १३. आंख और कान १४. का संवाद हुआ है कवि हीरकलश के इस उल्लेख के अनुसार ये सब स ंवाद उनके देखने मे तो आये ही होगे। कुछ का तो सम्भवतः उन्होने निर्माण ही किया है। जैसे मोती और कपासिया (काकडा) का स वाद तो उनका प्राप्त है ही। जिस प्रति में (हमारे संग्रह की) यह जीभ दात स ंवाद है उसके पूर्ववर्ती दो पत्रो में भी सम्भवतः हीर कलश के कुछ अन्य स ंवाद भी रखे गये होगे, जो अब प्राप्त नही है। हीरकलश के पश्चात कविवर समयसुन्दर ने स ं० १६६२ मे दानादि स वाद शतकनामक सुन्दर काव्य की भी रचना की। इसमे जैनधर्म में अति प्रसिद्ध दान, शील, तप और भाव इन धर्म के चार प्रकारो का स ंवाद-बहुत ही सुन्दरता के साथ उपस्थित किया है। प्रारम्भ मे कहा गया है कि महावीर भगवान राजगृही मे समवसरे बारहप्रमदा उनकी वाणी सुनने के लिये बैठी है। उसी समय दान भगवान से कहता है मैं सबसे बडा हूँ सबसे पहले मेरा बखान किया जाय। फिर १५ पद्यों मे वह अपना महत्व प्रकट करता है। इतने ही में शीलधर्म राज को सम्बोधित कर कहता है कि तू अहंकार क्यों करता है। मेरा महात्म्य भी सुन ले, और १७ पद्यों में वह अपना बयान करता है। इतने मे ही तप तपाक मे शील से कहता है कि तूने दान से तो बाजी मारी पर मेरे सामने तू भी कुछ नही है और फिर २० पद्यों में वह अपना बखान करत' है। फिर तप से भाव कहता है कि मेरे बिना चाहे कितना ही तप करो, शील-वलिदान दो, सब बेकार है। मैंने जो वडे वडे काम किये है, उन मेरी चमत्कारी बातों को सुनकर "शाबास" दो। फिर वह भाव द्वारा जिन जिन व्यक्तियों का उद्धार हुआ, उनका नाम उपस्थित करता है। इस प्रकार २८ पद्यो मे उसका बयान समाप्त होने पर भगवान महावीर चारों को समझाते है, कि छिद्रान्वेषी बनकर एक दूसरे कि निन्दा न करो। आत्मप्रशंसा भी अच्छी नही है। चारो का ही अपना अपना महत्व है तत्पश्चात भगवान ने अपने मुखों से इन चार धर्मो का समान रूप से वर्णन किया। भगवान के मुंह से कवि ने कहलाया है कि—

> वीर कहइ तुम-सांभलेउ, दान शील तप भाव
> निन्दा छह अति पाडुइ, धर्म कर्म प्रस्तावि ॥१॥
> पर निन्दा करता थका, पापइ पिंड त भराइ।
> वेढी राढि वाधइ घणी, दुर्गति प्राणि जाइ ॥२॥

निन्दक सरीखो पापियउं, भुण्डउ कोइ ने दीठ ।
वली चंडाल समउ कहो, निन्दक मुख दीठ ॥३॥
आप प्रसंशा आपणी, करता इन्द्र नरिंद्र ।
लघुता पामइ लोक मइ, नासइ निज गुण वृन्द ॥४॥
को कहेनी म करउ तुम्हें, निन्दा नइ अहंकार ।
आप आपणी ठामइ रहो, सहु को भलउ संसार ॥५॥

कविवर की यह रचना बहुत लोकप्रिय हुई प्रतीत होती है क्योंकि इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियां तो हमारे संग्रह में तथा अन्यत्र प्राप्त हैं। सं० १६६२ सांगानेर में १०१ पद्यों में यह संवाद रचा गया। इसकी तत्कालीन प्रसिद्धि का एक विशिष्ट उदाहरण यह भी प्राप्त हुआ है कि सं० १६६९ की माघ सुदी में कृष्णदास ने "दान शील तप भावना का रासा" बनाया। जिसकी प्रति हमारे संग्रह में है। यह रचना हिन्दी पद्यों मे समय-सुन्दरजी के उपर्युक्त संवाद के अनुकरण पर रची हुई प्रतीत होती है।

इसी शताब्दी में सं० १६८२ या १६८९ में कवि श्रीसार ने फलोदी मे "मोती कपासिया संवाद" नामक १०३ श्लोकों का विस्तृत ग्रन्थ बनाया। इसके प्रारम्भ मे कवि ने लिखा है कि ऋषभदेव भगवान् शुद्ध आहार की खोज करते हुए हस्तिनापुर में पधारे। उन्हें मोतियों के थाल से पद्मिनी स्त्रियों ने बधाया। उस समय मोती ने अहंकार में आकर कहा कि मैं संसार मे सबसे बड़ा हूं, मेरे बराबर कोई नहीं। उसने जब अपनी लंबी चौड़ी प्रशंसा की तो कपासिये ने मोती से कहा कि अभिमान न कर, मेरा महात्म्य भी सुन। फिर वह अपनी विशेषताओं का वर्णन करता है और दोनों का मेल हो जाता है। यह संवाद ६ ढ़ालों में है इसकी कई प्रतियां हमारे संग्रह में हैं।

इसके पश्चात् सं० १६९९ किशनगढ में रचित कवि कुशलधीर का "उद्यम-कर्म संवाद" ३८ पद्यों का है। जिसमे उत्तर प्रत्युत्तर के रूप में उद्यम और कर्म ने अपनी अपनी बड़ाई की है। इसी शताब्दी के संवाद संज्ञक कुछ अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त हैं। जिसमे राजकवि रचित रावण मन्दोदरी संवाद स्वतन्त्र पदों के रूप में है। सं० १६८९ में लूणसागर के अजंतासुन्दरी संवाद रचे जाने का उल्लेख जैनर गुर्ज कविओ भाग १ पृष्ठ ५७४ में है। पर उसकी प्रति मुझे प्राप्त नही है अतः उसका विशेष परिचय नही दिया जा सकता। "हरिणी-संवाद" नामक एक अन्य रचना भी देखने में आई है, पर इस समय सामने न होने से उसका भी परिचय नहीं दिया जा रहा है। हमारे संग्रह में अन्य

कई छोटी छोटी रचनाएं हैं जिनमें रचनाकाल का निर्देश नहीं है पर वे सतरहवी शताब्दी की ही प्रतीत होती हैं —

१ १६ पद्यों में मुनिशील द्वारा रचित कस्तूरी कपूर संवाद इसमें कस्तूरी और कपूर ने अपना अपना महत्व प्रकट किया है।

२. १० पद्यों मे श्री हर्ष रचित सासू बहू विवाद – जिसमें सासू और बहू का विवाद वर्णित है।

३. ६ पद्यों में से कवि द्वारा रचित कृपण लक्ष्मी संवाद

४. २५ पद्यो मे दान कवि रचित काव्य-जीव प्रेम संवाद जैन गुर्जरकविओ आदि में सुधन हर्ष कवि रचित "मंदोदरी रावण संवाद "पद्य संख्या ६४, जयवत रचित "लोचनकाजल" संवाद पद्य १६, अजितदेव सूरि रचित "समकितशील संवाद" का भी उल्लेख मिलता है।

१८ वी शताब्दी में लक्ष्मीवल्लभ रचित "भरत बाहु बल संवाद, पद्य २६, बाल चन्द्र रचित पंचेन्द्रिय चौपाई १७५१ आगरा, यशोविजय रचित समुद्र वाहण संवाद "विनय विजय रचित" पचसमवाय संवाद (स्तवन), उदय विजय रचित समुद्रकलश संवाद १७५४ और अभय सोम रचित कर सवाद सं० १७४७ आखातीज इनमें से समुद्र वाहण संवाद, पंचसमवाय संवाद स्तवन प्रकाशित हो चुका है। इन दोनों के रचयिता बहुत बडे विद्वान है, विषय का निरूपण बहुत सुन्दर हुआ है, भाषा गुजराती है कर संवाद की प्रति हमारे संग्रह में है।

१९ वी शताब्दी मे अमृतविजय रचित "रामराजीमती संवाद चौक" सं० १८३९ में रचा गया जिसमें कई सखियों का सवाद बडा सुन्दर हैं सं० १८२७ में विजय लक्ष्मीसूरि ने ज्ञान दर्शन चारित रतन त्रय का संवाद बनाया है, इसी शताब्दी में ऋषि जयमल के शिष्य रूपचन्द ने पचेन्द्रिय की सज्झाय नामक संवादात्मक रचना की थी जिसकी ६ पत्रों की प्रति हमारे संग्रह में है।

ऊपर जिन संवादो का परिचय दिया गया है वे प्रायः सभी जैन विद्वानों की रचनाए हैं, जैनेतर कवियों की भी कुछ ऐसी रचनाएं प्राप्त हैं उनका भी यहा निर्देश कर देना आवश्यक है।

१७ वी शताब्दी में बीकानेर महाराज रायसिंह जी के आश्रित शंकर कवि ने "दातार और सूमका संवाद" बनाया, जिसकी प्रति हमारे संग्रह में है। मारवणी मालवणी

संवाद नामक एक सुन्दर रचना, जिसमें मरु और मालव सम्बन्धी विशेषताओं का वर्णन वहां की स्त्रियों के मुह से करवाया गया है. जिसे मैं 'राजस्थान भारती' में प्रकाशित कर चुका हूँ। गुरु चेला संवाद तो राजस्थानी भाषा की बहुत सुन्दर ज्ञान वर्द्धन मुक्तक रचना है। एक पद्य में तीन चरण मे तीन तीन बातें चेले से पूछी जाती है और चौथे चरण में तीनों का उत्तर चेला गुरु को दे देता है। ऐसे प्राप्त पद्यों का संग्रह भी 'राजस्थान भारती' में प्रकाशित कर दिया है। कुछ अन्य सम्वाद —उन्दर मिनकी सम्वाद" "सोना-गुंजा सम्वाद" आदि भी मिलते हैं जिनमें सोना गुंजा संवाद तो गद्य में लिखा हुआ प्राप्त हैं।

हिन्दी मे भी कवि नागरीदास के कई वाद-तेल तंबोलका वादु, वादु मंगनदानिका नैनकानका, लोहे सोने का, लज्जा मुख का आदि अकबर दरबार के हिन्दी कवि में छप चुके हैं। अन्य ज्ञात हिन्दी वादों का परिचय निम्नोलिखित है —

हिन्दी संवाद ग्रन्थ

१. केसि-गोतम संवाद		दिगम्बर १३ पंथी बड़ा भंडार
२. मन ज्ञान संग्राम-६४ पद्य		,,
३. भरत बाहुबलि सम्वाद (अपभ्रंश)		,,
४. ज्ञाता कामिका विवाद		,,
५. सुमति कुमति का झगड़ा		,,
६. मन ज्ञान संग्राम सेवाराम		लूणकर पाडया भंडार
७. आम नीब का झगड़ा		,,
८. जीव कर्म संवाद		,,
९. मन ज्ञान का संवाद-लालचन्द		,,
१०. वादु लोहे सोने का (१३ म०) नरहरिदास १७ वीं शताब्दी		
११. नैन कान का वाद (६ पद्य)	,,	अकबरी दरबार के हिन्दी
१२. तेल तबोल का वादु (८ पद्य)	,,	कवि में प्रकाशित
१३. मंगन दानि का वादु (१० पद्य)	,,	,,
१४. लज्जा और भूख का वादु (१० प०)	,,	,,
१५. सीस चरण संवाद पद्य ३२ प्राणनाथ	,,	,,
१६. रितु सभाव संवाद ४० पद्य-कलपति मिश्र		

१७. सुरूप-कुरूप संवाद	कुलपति मिश्र	
१८. विष-पियूष संवाद	,,	
१९. रूप-गुण संवाद ६४ पद्य		अनूप संस्कृत लाइब्रेरी
२०. श्यामा-हिरदे संवादो		,,
२१. स्वर्ण-मुक्ता संवाद		ना० प्र० सभा
२२. वादु गोरी सावली-चतुरभुज दसोधी		,,
२३. सोने लोहे का झगडा		,,

अन्य उपलब्ध जैन संवाद ग्रन्थ

१. अंजना सुन्दरी संवाद	१६८९	लूण सागर	
२. आखि-कान संवाद		सहज सुन्दर	अभय जैन ग्रन्थालय
३. उद्यम-कर्म संवाद	१६९८	कुशलधीर	
४. कर संवाद	१५७५	लावण्यसमय	
५. कर संवाद	१७४७	अभयसोम	अभय जैन ग्रंथालय
६. कस्तूरी-कपूर संवाद		मुनिशील	
७. काया-जीव संवाद गा. २५		दाम	
८. कृपण-नारी संवाद गा ८	१५ वी शताब्दी		
९. गोरी-सांवली गीत ६३		लावण समय	
१०. जीभ-दांत गा. ४१	१६४३	हीरकलश	
११. दानादि संवाद	१६६२	समयसुन्दर	
१२. नेमिराजमती संवाद	१८३९	अमृत विजय	
१३. पंच समवाय सवाद		विनय विजय	
१४. पंचेन्द्रिय संवाद	१७५१	बालचन्द्र	
१५. पचेन्द्रिय संवाद		रूपचन्द्र	
१६. मोती-कपासिया संवाद	१३२६	हीरकलश	
१७. मोती-कपासिया संवाद	१६८९	श्री सार	
१८. यौवन-जरा संवाद		सहजसुन्दर	
१९. रावण-मंदोदरी संवाद	१५६२	लावण्य समग	
२०. ,, ,,		राजकवि	

२१. रावण मंदोदरी संवाद		जिनहर्ष	
२२. " "		सुवनहर्ष	
२३. लोचन-काजल संवाद		जयवंत	
२४. समकित-शील संवाद		अजितदेव सूरि	
२५. समुद्र-कलश संवाद	१७५५	उदय विजय	
२६. समुद्र-वाहण संवाद		यशोविजय	
२७. ज्ञान-दर्शन चरित्र संवाद	१८२८	विजयलक्ष्मीसूरि	
२८. जिह्वा-दांत संवाद		नरपति	देशाई संग्रह
२९. सुखड़-चंपक संवाद			"
३०. भरत-बाहुबली संवाद पद्य ८९	१८ वी शता	लक्ष्मीवल्लभ	महिमा भक्ति भंडार बस्ता सं० ७७
३१. रावण-मंदोदरी संवाद	१६ वी शता.	श्री धर	प्रकाशित
३२. दाता-सूर संवाद	१७ वी शता.	शंकर कवि	अभय जैन ग्रन्थालय
३३. मारवणी-मालवणी संवाद	१८ वी शता.		प्रकशित राजस्थान भारती

इस प्रकार सासू-बहू संवाद, गुरु-शिष्य संवाद, उन्दर-बिल्ली संवाद, मोती-सोना संवाद आदि उपलब्ध है। जैनेतर कवियों के भी रावण-मंदोदरी संवाद, दातासूर-संवाद, मारवणी- मालवणी संवाद हमारे संग्रह मे उपलब्ध है।

दवावैत संज्ञक रचनाएं

हिन्दी भाषा मूलतः मध्यप्रदेश की भाषा है और उसके विकास मे मुसलमानों का भी काफी योग रहा है। जब उनका शासन यहा प्रवर्तित हो गया और प्रभाव जम गया तो उनकी भाषा अरबी-फारसी के अनेको शब्दो का प्रचार राज्य संपर्क से हिन्दू जनता मे भी होने लगा। इसलिए १४वी शताब्दी से हम अपने प्रातीय भाषाओ के ग्रन्थों में अरबी फारसी के शब्दों का क्रमशः प्रचुर प्रयोग पाते हैं। इधर मुसलमानों को भी जनता से सम्पर्क बढाने के लिए स्थानीय भाषा एव बोलियो को अपनाना पडा, और इस तरह के आदान-प्रदान से कुछ नये रचना प्रकारों की परम्परा भी चालू हुई। उनमें से एक प्रकार 'गजल' का है। १७वी शताब्दी में नगर वर्णनात्मक 'गजल' संज्ञक रचना-प्रकार का प्रादुर्भाव हुआ दिखाई देता है। हिन्दी के कवि जटमल नाहर ने लाहोर गजल, झिगोर गजल और सुन्दरी गजल सवत् १६८० के आसपास पंजाब में रहकर बनाये, उनके अनुकरण मे अनेकों जैन कवियो ने १८वी और १९वी शताब्दी मे ऐसी गर वर्णनात्मक पचासों गजलें बनादी। १९वी के उत्तरार्द्ध एव २०वी मे तो चारण आदि कवियो ने भी उनका अनुकरण किया। यद्यपि अरबी-फारसी मे जो गजले प्रसिद्ध है, वैसी शैली इन नगर वर्णनात्मक गजलो में नही है पर आखिर जटमल, जिसने अपने लाहोर वर्णन को 'गजल' की संज्ञा दी है, उसके सामने पजाब मे वैसी कुछ रचनाए अवश्य प्रचलित होनी चाहिए। अभी तक उसकी पूर्व परम्परा का अनुसधान नही हो पाया।

इसी प्रकार फारसी का एक और रचना प्रकार १७वी शताब्दी से हिन्दी में विकसित हुआ। उसकी संज्ञा है "दवावैत"। पजाब में 'वेतों" का प्रचार तो काफी रहा है, मेरे संग्रह मे भी दो वेतें है, पर "दवावैत" संज्ञा वाली जितनी भी रचनाए अभी तक प्राप्त हुई है वे सब राजस्थान के कवियो की है और विशेषता यह हैं कि इनकी भाषा प्रायः खडी बोली है। फिर भी हिन्दी के विद्वानो को तो उनका परिचय कदाचित् ही होगा, क्योंकि अभी तक वे सभी दवावैतें अप्रकाशित ही है और वे राजस्थान के भंडारों में ही मिली है। खड़ी बोली के इस रचना-प्रकार के सम्बन्ध मे अभी तक हिन्दी संसार में अजानकारी रहना, अवाछनीय समझकर इस अज्ञात और नई दिशा मे प्रकाश डालने के

लिए यह लेख लिखा जा रहा है।

'दवावैत' शब्द का अर्थ अभी तक मुझे उर्दू आदि के कोष ग्रन्थो में प्राप्त नहीं हुआ और न फारसी-छन्दों सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण हिन्दी ग्रन्थ 'छंद रत्नाकर' जो मुझे दिल्ली के दि० जैनशास्त्र भंडार से मिला है, उसमे ही इस रचना-प्रकार का विवरण मिला। पर यह निश्चित है कि इसकी परम्परा अरबी-फारसी से ही सम्बन्धित है और विशेष सम्भव पंजाब से ही इस रचना प्रकार का राजस्थान मे प्रचार हुआ होगा। राजस्थानी भाषा के सुप्रसिद्ध छन्द ग्रन्थ "रघुनाथ रूपक" मे ७२ प्रकार के डिंगल गीतों के लक्षण और उदाहरण देने के बाद मछ कवि ने 'दवावैत' के दो प्रकार और उनके उदाहरण दिये हैं। यथा —

"कहे बोहोत्तर मंछ कवि, गीत प्रबन्ध गिनाय।
राज तिलक वर्णन करूं, 'दवावैत' समझाय"॥
"तबै मंछ कवि ह्वै तिके, दवावैत विध दोय।
एक 'सुद्ध बन्ध" होत है, एक "गद्य बन्ध" होय॥"

टीकाकार ने इसकी विशेष व्याख्या मे लिखा है —

विशेष — यह कोई छन्द नही है, जिसमे मात्राओं, वर्णों अथवा गणों का विचार हो, यह अंत्यानुप्रास, मध्यानुप्रास और किसी प्रकार सानुप्रास वा यमक लिया हुआ गद्य का प्रकार है। यह संस्कृत भाषा, प्राकृत भाषा, उर्दू भाषा और हिन्दी मे भी अनेक कवियों और ग्रन्थकारो द्वारा प्रयोग मे आया हुआ मिलता है। आधुनिक लल्लूलालजी के 'प्रेम सागर' आदि ग्रन्थों मे तथा उर्दू के बहारवे खिजा, नौवतन आदि ग्रन्थों मे तथा फारसी के ग्रन्थो में भी देखा जाता है। सम्भवतः डिंगल वालो ने भी उनका अनुकरण किया है।

यह दवावैत दो प्रकार की होती है एक सुद्धबन्ध अर्थात् पद बन्ध जिसमें अनुप्रास मिलाया जाता है और दूसरी गद्य बन्ध जिसमें अनुप्रास नही मिलाते।

पद्य वद्ध दवावैत का उदाहरण :—

अथ दवावैत पद बन्ध —
प्रथम ही अयोध्या नगर, जिसका वणाव।
बारै जोजन तो चौड़ों, मौलै जोजन की छाव।
चोतरफू के फैलाव, चौसठ जोजन के फिराव।
तिसके तलें सरिता सरिजु के घाट।

अत उतावल सू वहै, चौसर कोसों के पाट।
बड़ी बड़ी किताबूँ मे, जिस गंगा का बखाण।
केती वार नगरी कूँ, मेली निरवाण।

२. गद्य बद्ध का उदाहरण :—

दूहा — कहे मछ इतरी कही, पद बन्ध नाम प्रबन्ध।
दवावैत फिर दूसरी, कहूँ इसै गदबन्ध।

उदाहरण — हाथियों के हलके खंमू ठाणा तै खोले।
ऐरापत के साथी भद्र जाति के टोले।
अत देहु के दिग्गज विंध्याचल के सुजाव।
रंग रंग चित्रे सु डा उंडू के वणाव।
झूल की वलूसे वीर घंटुके ठणके।
बादलों की जगमगा भरे भौरों की भकी भंण के।
कल कदमु के लगर भारी कनक की हूँस।
जवाहर के जेहर दीप माला की रूंस।
भालू के आडम्बर चहु तरफ कू भारे।
माहुत ने गज ऐसा हाजर कर राखे।
वरण वरण के विलास खेतु में कायम।
आरसी से मजुल मुखमलू से मुलायम।
वर वागू के सांचे पंख राउसी धाव।
खुर तालु के झमके सत सिपा के सिलाव।
आउ जाउ मे चक्की निरत करवे में हूर।
जग जंगू में गरीत, सालोतरू में पूर।

दवावैत सम्बन्धी छन्द ग्रन्थ, के उद्धरण देकर अब हम प्राप्त दवावैतो का सक्षिप्त परिचय उपस्थित कर रहे है।

१. उपलब्ध दवावैतो मे सबसे छोटी और पुरानी रचना "नरसिहदास गौड़ की दवावैत" है, जो भाट मालीदास गगादास के पौत्र ने कही है, इसका प्रारम्भिक अश तो राजस्थानी मे है, आगे का अश खडी बोली मे है। दोनो के कुछ उद्धरण नीचे दिये जा रहे है —

अथ दुवावैत नरसिंघ दास गोड़ की ।[१]

भाट मालीदास गंगादास रे पोत रे कही ।

आदि— हींदवाण छात हींदवाण सूर, अजमेर जोधपुर माणपुर ।

अजूवाल वंश असवां अरोड़ ढीलड़ी भोच महिपत्यां मोड़ ।

मध्य— सबां मरदां जागता है, जगत के बखतौ जागता है ।

भोमिया शत्रु भागता है, तरो गिरो आलागता है ।

नित दांन त्यागते हैं, गो सूर वंदते है ।

असनांन संभते हैं, सेवा विस्तरते हैं ।

पूजा पारते हैं, दहलो वारते है, सहलो सिधारते हैं ।

अंत — राज राज नरसिंह जेत, कवि मालीदास कहे दवावैत ।

इस रचना की प्रति १८वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की लिखी हुई अनूप संस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर मे है, अतः १७वीं के अन्त या १८वी के प्रारम्भ की यह रचना है ।

२ दूसरी रचना जैन कवि राम विजय (सुप्रसिद्ध नाम रूपचन्द) द्वारा रचित 'जिन सुख सूरि दवावैत मजलस' नामक है जो सम्वत् १७७२ मे रची गई है । उसमे मजलस और दवावैत दोनों संज्ञाए साथ साथ दी हुई हैं । रचना बहुत छटादार है ।

आदि — अहो आओ बे यार, बैठो दरबार ।

स चांदनी रात, मजलस की बात ।

कहो कोण कोण मुलक, कौण कोण राजा देखै ।

कौण कोण पातिसाह ? देखे,

कोण कोण दईवान देखे ।

कौण कोण महिरवान वेखे ।

---

१ चारण कवि किसना जी आढा रचित 'रघुबरजस प्रकाश' प्र० राजस्थान पुरातत्व मन्दिर के पृष्ठ ८५ में दवावैत का उदाहरण तो दिया है पर लक्षण नहीं बतलाया गया है ।

दवावत फिर बात दख, जुगत बचनका जाण ।

औछ अधक तुक असम पे, बीदग गद्य बखाण ।।

अथ दवावैत

महाराजा दशरथ के घर रामचन्द्र जनम लिया ।

जिस दिन सै आसरू नै उदेग देवूं ने हरख किया ।।

दिल्ली दईवान फरुकसाहि सुलतान देखे ।
चीत्तौड़ संग्रामसिंघ दीवान देखे ।
जोधाण राठौर राजा अजित सिंह देखे ।
बीकाण राजा सुजान सिंह देखे ।
आमेर कछवाहा राजा जयसिंह देखे ।
जैसाण जादव-रावल बुधसिंह देखे ।
ए कैसे हैं ? बडे सुविहान हैं, बड़े महरबान हैं ।
बडे सिरदार हैं, वडे वजदार हैं, वडे दातार हैं ।
जमीं आसमान वीचि शंभु (के) अवतार है ।
अंत — श्री पूज्य जिन सुखसूरि आई पाट विराजते हैं ।
इन्द्र से छाजते हैं, धर्म कथा कहते गाजते हैं ।

३ तीसरी मजलस जो इसी शैली की है, पर है बहुत विस्तृत । अभी तक प्राप्त सभी दवावैतो मे यह सबसे बडी है । जिसका परिचय आगे दिया जा रहा है— राजस्थान के तपागच्छीय कवि कनककुशल और कुंवरकुशल दोनो गुरु शिष्य १८वी के अन्त मे कच्छ-भुज पहुँचे और वहा के महाराव लखपत ने इन्हे अपना गुरु मान कर बहुत आदर के साथ वहा रख लिया । राव लखपत ने साहित्य और काव्य की शिक्षा इनसे ग्रहण कर ब्रज भाषा मे कुछ ग्रन्थ भी बनाए है साथ ही उसने एक ब्रज भाषा का विद्यालय भी इन जैन महात्माओ के तत्वावधान मे चालू कर दिया । जिसमे रहने, खाने आदि का प्रबन्ध राज्य की ओर से था । इस सुविधा के आर्कषण से राजस्थान गुजरात और सौराष्ट्र के अनेको छात्रो ने आकर यहा काव्य-कला और साहित्य शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की । भट्टारक कनककुशल और कुंवरकुशल ने ब्रज भाषा मे लखपत नाम माला, परसात नाम माला (फारसी शब्दो का कोश) ये दो कोश और लखपत पिंगल, गोहड़ पिंगल नामक छन्द ग्रन्थ, लखपत जस सिंधु नामक अलकार ग्रथ और सुन्दर श्रृंगार आदि की टीकाएं बनाई । महाराव लखपत का बहुत बिस्तार से सुन्दर वर्णन कुंवरकुशल रचित "दवावैत मे मिलता है ।

इसकी प्रति टिप्पणीकार स्वय कुंवरकुशल की लिखी हुई मुनि पुण्य विजय जी की कृपा से देखने को मिली । रचना सवत् १८०० के आस पास की है ।

४ चौथी रचना 'जिन लाभ सूरि दवावैत' खरतर गच्छीय कवि वस्तपाल (वाचक

विनय भक्ति) रचित हमारे संग्रह मे है, इसके प्रारम्भ, मध्य और अन्त में कुछ पद्य भी हैं यहां वचनिका गद्य का ही कुछ उदाहरण दिया जाता है :—

ऐसी पद्मावती माई, बडे बडे सिद्ध साधकों ने ध्याई ।
तारा के रूप बौद्ध शासन में समाई ।
गौरी के रूप शैवमत वालो ने गाई ।
जगत में कहानी हिमाचल की जाई ।
जिस बात में सरस्वती हूँ का न रहा सालरा ।
तो और कवीश्वरों का क्या विचारा ।
पर जिन जिन की जैसी उक्ति, और जैसी बुद्धि की शक्ति ।
तिन माफक तुक, बहुत कह्या ही चाहिए ।
बडे बडे कवीश्वरो की उक्ति देखि हिम्मत हार न बैठे रहिए ।
यातें सब गच्छ राजन के महाराज गच्छाधिराज-श्री ।
जिन लाभ सूरि दवावैत कही गुन गाया ।
अपनी कविता पुनि स्वामी धर्म का फल पाया ।

जिन लाभ सूरि का समय संवत् १८०४ से १८३४ तक का है अतः इस दवावैत की रचना सं० १८१० और १८२० के बीच की होनी संभव है । उपर्युक्त चार दवावैतों में से पहली भाट कवि की है और पिछली तीनो जैन कवियों की है । जैन कवियों की इसके बाद की कोई रचना नही मिली और न किसी भाट कवि की ही । अब आगे ४ चारण कवियों की दवावैतों का परिचय दिया जा रहा है ।

५ चारण कवियों की दवावैतो में महाराजा अजितसिंह की दवावैत संवत् १७७२ मे रची गई । इसकी सर्व प्रथम सूचना मुझे श्री सीताराम जी लालस से मिली और इसकी प्रतिलिपि राजस्थानी भाषा के प्रबल समर्थक कवि उदयराजजी उज्जवल से मिली । मैंने जब उन्हे इसकी नकल भेजने के लिए लिखा तो उन्होने स्वयं अपने हाथ से १६ पृष्ठों में नकल करके तारीख २८-१-५६ को मुझे भेज दी, इसके लिए आपका मैं विशेष रूप से आभारी हू । उसके बाद मैं अपने विद्वान डॉ० दशरथ शर्मा से दिल्ली मिला तो उनके पास पड़े हुए हस्तलिखित ३ गुटके देखे संयोगवश उन मे से एक गुटके मे अजितसिंह जी की दवावैत मिली और दूसरे दो गुटकों मे भी एक एक अन्य दवावैत प्राप्त हुई । अतः तीनों गुटके मैं अपने साथ ले आया, इसके लिए मैं डॉ० दशरथ जी का आभारी हूँ ।

चारण कवियो मे वदावैत की परंम्परा इससे पहले भी रही होगी पर मुझे उपलब्ध तीनों दवावैतों मे जोधपुर के महाराजा अजितसिंह जी की दवावैत ही सबसे पुरानी है। इसमे प्रारम्भ, मध्य और अंत मे १२ दोहे, ३ कवित्त, और दो गाथाएं भी मिलती हैं बाकी वर्णन तुकान्त गद्य मे हैं। प्रारम्भ और अन्त इस प्रकार है।

अथ दवावैत महाराजा श्री अजितसिंहजी री—

दोहा— मन बुध मिल कीधो मतो, सिवरां आद गणेश।
महाराजा अजमाल ने, शब्दाडम्बर कहेश॥
देवा अगवाणी जपूं, सेवा तन सूंडाल।
दवावैत आदि दिवो, ब्रह्मा वयण विसाल॥
अथ गणपत गुण धाम पिंगल कूं ध्याऊं।
(जिन) चौरासी बन्ध रुपग जात जात के कह जनाऊं॥
ऐसा श्री गणेश सिध बुध का राजा।
उक्त का अम्बार मुकत का दरवाजा॥
तैतीस क्रोड़ देवता का अगवाणी।
रुद्र सा पिता माता भी रुद्राणी॥
मेरू ही दंता हस्ति का सा आनन।
सिन्दूर का टीका मूसा सा वाहन॥
विवैर सीना भी दरयाव सा उदर।
रुद्र ही सारसा ग्यारहवां रुद्र॥
ऐसा श्री गणेश को प्रथम नमस्कार कीजे।
राजान के राजा महाराजा श्री अजमाल कूं दवावैत कहीजे॥
दूसरा नमस्कार सरस्वती कूं करणा।
सुमत को दाता, कुमत की हरणा॥
हंस गवनी हंस वाहनी देवी।
सुर नर नाग गण गन्धर्व सेवी॥
मध्य— महाराजा अजमाल भावता को भावता,
अनभावता को नटशाला कहना,
क्या कहावणा, दादाणे भी राव नानाणे भी राव।

बड़ों की बड़ाई, पुरुषों की प्रभुताई, सब सरां सुणाई,
रीझ मौज पाई, महोला लिया, अवहल किया।
क्रोड़ क्रोड़ रा किलाण कोड दिवाली राज।
जशवन्त सिंह गजसिंहोत राऊ मरुधर राज।

अन्त— दवावैत द्वादश दोहा, तीन कवित्त दोय गाह।
सतरह सो बहोत्तरै कव द्ववारै कहियाह॥

डा. दशरथ जी के गुटके के पत्राक ६१७ मे लिखी हुई है द्वारकादास धधवाड़िया की कही हुई 'द्वावेत महाराज अजितसिंह जी री' प्रति एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ते के संग्रह में भी है।

६ चारण कवि रचित दूसरी दवावैत बीकानेर के महाराजा सरदारसिंह जी की है। यह काफी बड़ी है। इसमें राठोडो की वशावली से प्रारम्भ कर महाराजा सरदारसिंहजी तक का वर्णन किया गया है। इसमे भी प्रारम्भ और मध्य में दोहा कवित्त दिये गये है। गद्य की संज्ञा 'वचनिका' दी गई है। मुझे जो गुटका प्राप्त हुआ है, उसमे ३१ पत्र के बाद २९ तक पत्र नही है। इससे अन्त का अश जो इसी बीच पूर्ण होता था वह प्राप्त नहीं हो सका अतः कवि का नाम और रचना काल अज्ञात है। प्रारम्भ और मध्य का कुछ अंश नीचे दिया जाता है:—

अथ दवावैत महाराजा श्री १०८ सिरदारसिंह जी री लिखते—

दोहा— वन्दौ श्री गरणपत विमल आपहु सु बुध उदार।
कमधेश्वर के जस कहुं अपनी मति अनुसार॥
वर्णमाल के मध्यवर जुगल वर्ण रमजान।
कारण त्यों सब वंश के महर दीर्घ कुलमाल॥
उर्द्ध गमन जुग वर्ण के सब वर्णन पे होय।
कुल सब ही पे भानू कुल कहे उर्द्ध व सब कोय॥
वर्ण प्रथम जिह वंशवर रवि कुल भूप उदार।
जाकी जुग जाहर जगत सबला पन लत सार॥
अविनाशी अवय अलख आदि पुरुष अखलेश।
तिह नामि अम्भोजते चतुरानन उपजेश॥

अथ वंश सूचित वचनका—

हरण गर्भाद सुवित्रान्त अवहरणे ।
वर विध रवि वंश वेदव्यास मुख वरणे ॥
एक शत तेवीस पुस्त गिनती परवान ।
जग चखके वंश सुवित्रान्त भये जान ॥

मध्य— पन्दरह से पैंतालवी, सुध वैशाख सुमेर ।
थावर बीज थरपियो, बीके बीकानेर ।

वचन का— जिस बीका ने बीस भोमिचार तोड़ कर अपना राज बन्धे ।
फतह के निशान अरसत सन्थे ॥
पीछ राव जोधा के तिलक छत्र सुजा ने पाए ।
जाकी सुन दलवल सज विक्रम भी धाए ॥
अस्सी हजार फौज से राव कूच किया ।
लाग तरफ दखण से शहर लूट लिया ॥
जशमादे हाडी मां से विन चढ़ धाये ।
सुत पौ सरसाय नेह नीक समझाये ॥
पीछ राव माजी का कहा मान लिया ।
लेके पूजनीक वस्त्र कूच सेन किया ।

तीसरी चारणी दवावैत बीकानेर के प्रसिद्ध और इतिहास लेखक संढायच दयालदास ने अपने जस रत्नाकर नामक इतिहास ग्रन्थ में दी है यह भी अधूरी ही मिली है । अनूप संस्कृत लायब्रेरी में सम्भव है, पूर्ण मिल जाय । इसकी रचना भी बीकानेर के महाराजा श्री रतनसिंहजी का वर्णन इसमे होने से १९ वी (उन्नीसवीं) शताब्दी के अन्त में ही हुई है ।

आदि दोहा— श्रुत विध तहां वरणे सुखद, नृप अभिषेक विधान ।
वरणौ नृप नृपता विमल, पद वन्द वैत प्रमान ॥

अथ दवावैत— गणपति दीजै बुध उक्त का ज्ञान ।
मैं गाऊ बीकानेर पति मघवान ॥
पारथ से वरणा वली भारत भीम ।

परीछत परमारथ के सुदाता के सीम ।।
वचनों के दरवासा सील के गंगेल ।
तपस्या के मृत्युञ्जय राघन अभिमेल ।।
मध्य— जिस छभा में महाराज के कविराव ।
विद्या के आगर जग रस के विभाव ।।
कस्यप से उत्पति आरछे सात ।
दिनकर पुराण व्यास वरण विख्यात ।।
शील के सदन कुल धर्म की मरजाद ।
षट भाषा जाणंगर अमरु कुल आद ।।

चौथी रचना दुरगादत्त कवि की है। जिसकी सर्व प्रथम सूचना मुझे डॉ० अचल शर्मा के थीसिस से मिली कि इसकी प्रति डॉ० मथुरालाल जी शर्मा के पास है। उनको मैंने दो-तीन पत्र दिये पर प्राप्त न होने से डॉ० अचल शर्मा से ही नकल मगवाई। फिर तो श्री सीताराम लालस से विदित हुआ कि इसकी हस्तलिखित प्रति उनके पास भी है श्री अचल शर्मा की प्राप्त नकल मे स्थानो और व्यक्तियों के नाम छोड़ दिये गये है। पर उनकी सूचनानुसार यह इसरदा ठिकाने से मिली है। १९वी उतरार्द्ध या २०वी के पूर्वार्द्ध में दुर्गादत्त चारण किसी ठिकाने मे कुछ प्राप्ति की आशा से पहुँचा, पर उसे वहा उचित पुरस्कार नहीं मिला उससे खीज कर उसने यह निन्दात्मक दवावैत वना दी। प्रारम्भ में ही कवि कहता है :—

पूर्व की तरफ राजावटी देस।
रोझूं का रैवास भांडूं का भेस।
जिस देश मे ईसरदा नाम का गांव।
बेवकूफों का वास। धूरतों का धाम। मंगतूं का—
मोहल्ला, कगालूं का कोट। हीजडूं का सहर,[1]
जारूं का जोट, चुगलूं का चबूतरा, सगलूं[2] का
रैवास। कुकरमूं का कोठार, अधर्मूं का[3] ऐवास।
भूक[4] का भांडा, सालजादूं का मुकाम। अनीत का अखाड़ा

१ शहर २ रगला ३ आदर्शों ४ भूख का भण्डार

अदूतों का आराम । हराम का हटवाडा । हराम जादू की हाट
खोटू का खजाना । परेतू का पाट । विपत का बगीचा ।
बुराई का वास । काल का कुंडाला । मरी का मेवास ।
ठगू का ठिकाणा, खोटू की सराय । पाप का पुवाड़ा ।
बसती का बलाय भूतां का भण्डार । सीकोरियों का सहायक ।
डाकणियां का दरबार रोग का रजवाड़ा । सोग की सिरकार ।
कायरू की कुटी । चोरू का आधार ।

अन्त— राजावत रघुनाथ री किरह हंदीबथ ।
देखी जिमकी वेदक दाखी दुरगादत्त ।

डॉ० अचलजी ने इसे दवावैत गद्य का बहुत उत्तम उदाहरण बतलाते हुए लिखा है कि इसके गद्य बयण सगाई की अनुपम छटा है, वर्णन शैली गद्य की प्रवृति का प्रतीक है, इस प्रकार के गद्य मे पता चलता है कि राजस्थानी गद्य मे पद्य के अनुकरण पर अंत्यानुप्रास, मध्यानुप्रास था किसी अन्य प्रकार के अनुप्रास व यमक आदि की छटा देखने को मिलती है । पद्य मे पाये जाने वाले प्रसिद्ध अलकार बयण सगाई इस गद्य में भी मिलता है, जो गद्य शैली की प्रवर्ता का प्रतीक है ।

बारहठ दुरगादत्त रचित वैत की एक प्रति कलकत्ता की ऐसियाटिक सोसाइटी के संग्रह मे राजस्थानी विभाग पति न० पी० ३९ सी० मे है ।

उसका उदाहरण सूची पत्र मे इस प्रकार दिया गया है—

बैत बारहठ दुरगादत्त री कही—
एक रम हम सोया हुं नव ख्वाव पाया ऐन ।
वजगाह की हर वग्त ते फिर कहन लागे बैन ॥
एक अजब एसालक बाग था परवस्त आदम बार ।
स्यब गुलम दरखत बीच रसते आब चलत फुहार ॥

बारहठ दुरगादत्त की अन्य रचनाएँ भी बगाल हिन्दी मण्डल में प्राप्त हैं । एसियाटिक सोसाइटी के सग्रह मे "ग्रन्थ दवावैत रायजी श्री भगवानदासजी रो बारहठ खुमाण रो कहियौ" नामक रचना की प्रति भी है । सूची मे उसका आदि अन्त इस प्रकार दिया है—

अथ दूहा— सरसती ब्रह्मा पुत्री बीजे उकति बताइ ।
भूप बखाणू रायण तणा, दवावैत गुण गाइ ॥१॥
गवरी नन्दन गज वदन, दे अछर उपवेस ।
वाखाणू भुअपति गुणे रिमी देग्रण खगरेस ॥२॥

अन्त दोहा— भागीरथ राजा का तू सोह जाणंग विध ।
मे मति सारै माहरी दुवावैत गुण किध ॥१॥

बंगाल हिन्दी मण्डल के रजिस्टर नं० ५७ में एक दवावैत होने का उल्लेख है पर वह किसके द्वारा रचित है इसका विवरण सूची में नही है ।

इसके अतिरिक्त सरस्वती भंडार, उदयपुर के संग्रह में कुंवर संग्रामसिंह या महाराणा उदयसिंह की दवावैत है जो मेवाड़ी भाषा में है और प्राप्त प्रति संवत् १८६७ की लिखी हुई है । इस रचना का परिचय शोधपत्रिका वर्ष ८ अंक १-२ में प्रकाशित हो चुका है । सम्भव है अधिक अनुसंधान करने पर और भी कुछ ऐसी रचनाएँ प्राप्त हो जायं । हिन्दी और राजस्थानी इन दोनों भाषाओं मे दवावैतों का पाया जाना विशेष रूप से उल्लेखनीय है । उनमे कई रचनाओं मे वर्णन बहुत सुन्दर है । भाषा और शैली भी बडी सरस एवं सजीव है ।

अन्य उपलब्ध दवावैतों की सूची इस प्रकार है :—

१. दवावैत भींवजी विठ्ठलदासोत गौड़ री— महेसदास राव— १७१५-१७३० के मध्य
२. दवावैत अखमाल देवड़ा री— मेहडू विहारीदास— १६७४-१७३०
३. दवावैत चारणकवि कविया करणीदानजी री कही (सूरज प्रकाश में) — १७८७
   (अ) जोधपुर नगर वर्णन (आ) षड भाषामय प्रांतोल्लेख
   (इ) हस्ती वर्णन (ई) सरबिलंद खान की सैनिक तैयारी
४. दवावैत आसिया बखतरामजी री कही (रूपग दीवण भीमसिंह जी का में)
   (अ) राज्य वभव वर्णन
   (आ) आखेट वर्णन
५. दवावैत उदयपुर नगर वर्णन— आढा किसना— (भीविलास छ० ६७४)
६. दवावैत देवीसिंह चूंडावत री— भादा कृपाराम
७. दवावैत महाराणा जवानसिंह जी री— आसिया तेजराम

८. दवावैत आशिया बख्तराम री कही (कीरत प्रकाश में)

९. दवागैत स्वा. सरूपदासजी री कही— (पांडव यशेंदु चंद्रिका में)

१०. दवावैत डा० देबीसिंह सगतावतरी कही (सुजानसिंह जी री बात में)

(अ) सुजानसिंह जी का नखसिख वर्णन सं० १९१०

(आ) अश्व वर्णन (इ) शस्त्र वर्णन

(ई) सजना सौंदर्य वर्णन

११. दवावैत म० शंभूसिंहजी रै तीजेरी सवारी री— (शंभूजसप्रकास में)

— कविराज बख्तावरसिंह जी— सं० १९२१

१२. दवागैत राव गिरवरदान री कही (ग्रन्थ शिवनाथ प्रकाश में)

१३. सुपना भाव गैत— कविराज गुमान जी

१४. दवागैत रामदयाल री— अज्ञात*

अभी तक यह समस्या सुलझ नहीं पाई है कि ऐसी दवागैतों की रचने की प्रेरणा राजस्थान के कवियों को कहां से मिली और प्राथमिक रचनाएँ जब हिन्दी प्रधान है तो हिन्दी के क्षेत्र मे वैसी रचनाएँ रची जानी चाहिए, पर वे प्राप्त क्यों नहीं हैं ? आशा है भविष्य में इस दिशा में विशेष अनुसंधान होगा ।

* सौभाग्यसिंह सेखावत — शोधपत्रिका वर्ष १३ अंक ४

सलोका संज्ञक रचनाएं

राजस्थान और गुजरात में विवाह के समय वर और जनैतियों द्वारा सलोंके (देवी देवताओं के एक विशेष प्रकार के छंद) कहने की प्रथा है। शहरों में तो अब यह रिवाज उठता जा रहा है, पर गांवों मे अब भी प्रचलित है। इसकी परंपरा कितनी प्राचीन है, इसका पूर्वकालीन रूप क्या था, वर्तमान सलोकों का विकास कब से व किस प्रकार हुआ, इस संबंध में प्रस्तुत लेख में विचार किया जा रहा है।

मुनि लावण्य समय के 'विमल प्रबंध' ग्रन्थ में इस परंपरा की प्राचीनता सोलहवी शताब्दी के पूर्व की सिद्ध होती है। इस प्रबन्ध मे विमल मंत्री के विवाह प्रसंग मे वर के तोरण पर पहुँचने पर साले के द्वारा प्रेरित होकर वर के श्लोक बोलने का उल्लेख इस प्रकार है :—

पुहता तोरणि जोई लोक, सीख्या साला कहि सलोक।
विमल वांणी श्रवणे सांभली, स्या साला ते वहु दिसी टली ॥९४॥

सौभाग्यवश मेरे अन्वेषण में पन्द्रहवी-सोलहवी सदी के प्रारंभ में वर के द्वारा ये सलोके किस प्रकार कहे जाते थे? इसके उदाहरण स्वरूप एक रचना मुझे प्राप्त हो गई है। इसके अनुसार १६ वी शताब्दी मे वर अपने साले को संबोधित करता हुआ प्रारंभ में अपने आराध्य देव, गुरु, कुलदेवी, गो, माता-पिता, नगर, तत्कालीन शासक, उसकी सभा या परिकर एवं तोरण आदि के वर्णनात्मक सलोके कहता था। प्राप्त रचना के अंत में गणेश व सरस्वती को सुख देने की प्रार्थना की गई है। बीच मे विवाह मंडप कन्या की प्राप्ति और साले की कौतुहल पूर्ण करने आदि का उल्लेख है। इससे वर्तमान सलोके कही जाने वाली रचनाओं का पूर्व रूप ज्ञात हो जाता है।

सलोके का मूल शब्द "श्लोक" है। जन-भाषा मे सलोका या सिलोका शब्द प्रचलित हो गया है। इसकी रचना का प्रारभिक कारण वर की शिक्षा एवं बुद्धि परीक्षा लेना रहा होगा! जब वर विवाह के समय ससुराल जाता था, तो तोरण पर उसकी शिक्षा एवं बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए साले के द्वारा कुछ श्लोक कहे जाकर वर को कुछ

वर्णनात्मक श्लोक कहे जाने की प्रेरणा की जाती थी और उसके उत्तर में वर कुछ श्लोकों में अपने वंश आदि का परिचय देकर अपनी प्रतिभा का परिचय देता था। इस लेख में वर्णित रचना के अतिरिक्त खरतरगच्छ के शान्तिसागर सूरि और जिनसमुद्रसूरि के प्रवेश उत्सव आदि के वर्णन वाली दो राजस्थानी गद्य की विशिष्ट रचनाए हमें और प्राप्त हुई थीं, जिन्हें राजस्थानी (निबन्धमाला) भा० २ में हम प्रकाशित कर चुके हैं। उनकी पंक्तियों का प्रारंभ भी 'अहो सालक !' इन शब्दों के सम्बोधन द्वारा होता है। अतः वे भी विवाह प्रसंग में वर के द्वारा साले को सम्बोधित करके कही जाने वाली श्लोक रचना के रूप में ही बनाई गई प्रतीत होती है। जैसलमेर के बड़े ज्ञान भण्डार के फुटकर पत्रों में जिनभद्र सूरि और उनके शिष्य जिनचन्द्र सूरि की वर्णनात्मक दो रचनाएं हमारे अवलोकन में आई थी। इन रचनाओं का निर्माण वरों ने नही किया पर जैन मुनियों ने उनके तोरण पर बोलने के लिये किया होगा। सभी वर कोई रचना करने वाले नहीं हुआ करते। अतः वे ऐसी रचनाओं को याद कर लेते थे और रटी हुई रचनाएं प्रसंग पर बोलकर अपना काम निकाल लेते थे। आज कल भी यही होता है। अब सलोके वर स्वयं नही कहता, जानी एवं मांढी, दोनों सम्बन्धी-जन परस्पर सलोकों की होड लगाते हैं। यदि वर पक्ष के जानियों को या वर के कुटुम्बी जनों को सलोके नही आते तो वे हंसी के पात्र होते है और उन्हें नीचा देखना पड़ता है। सत्रहवीं शताब्दी से सलोकों के रचे जाने की शैली में अन्तर आ गया। इस समय से ऐसे सलोकों के लिए एक छंद रूढ सा हो गया। अब संस्कृत में श्लोक रचना न की जाकर भाषा में ही उस रूढ शैली में सलोके बनाए जाने लगे। १८वी शताब्दी में यह प्रथा और भी अधिक चली और १९वी में तो जोरों से अनेकों रचनाएँ बनी। अभी तक जैन-जैनेतर करीब सौ के ऊपर सलोके मेरे जानने में आए हैं। २० वीं शताब्दी मे भी अनेकों सलोके रचे गये और उनके कई संग्रह ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं।

जैन मुनियो ने इस प्रकार की रचनाओं के निर्माण में बड़ी दिलचस्पी दिखलाई। उनकी रचित रचनाओ का विवरण "जैन-सत्य-प्रकाश" के कई अंकों में (मेरे एवं प्रो० हीरालाल कापड़िया आदि द्वारा) उपस्थित किया जा चुका है। जैनेतर सलोकों की भी मैंने एक सूची तैयार की है। प्राप्त रचनाओं की सूची लेख के अन्त मे दी जा रही है। ये सलोके राजस्थानी भाषा मे ही अधिक रचे गये हैं इससे सलोको के कहने की प्रथा राजस्थान मे ही अधिक रही प्रतीत होती है। गुजराती भाषा के सलोके थोड़े ही प्राप्त हैं।

सलोके की शैली को राजस्थानी भाषा के छंद-ग्रन्थ "रघुनाथ रूपक" मे गद्य

काव्य का ही एक प्रकार माना है, क्योंकि इसमें मात्रा आदि का इतना विचार नहीं होता। यह साधारण लोगों के द्वारा अधिक रचे गये है, जिन्हें काव्य-निर्माण-प्रणाली एवं छन्दों का विशेष ज्ञान नहीं होता हैं। जैन कवि विद्वान अवश्य थे, पर उन्होंने भी प्रचलित शैली को ही अपनाया। इन सलोकों में देवी देवताओं एवं वीरों के गुण-वर्णन की ही प्रधानता है। इनकी बोलने की विशेष लय है। उच्च स्वर में जब उस लय में सलोके बोले जाते हैं तो सुनने वाले लोग बड़ी उत्सुकता के साथ टकटकी लगाये हुए उन्हें सुनते है। कई सलोकों में वीर रस की प्रधानता होती है। उनके सुनने मे तो हृदय फड़क उठना स्वभाविक ही है, पर अन्य सलोकों में भी महापुरुषों से सम्बन्धित होने के कारण उनके चरित्रों का चमत्कारिक वर्णन रहता है. जो लोक-प्रिय होता है। रघुनाथ रूपक के अनुसार यह वचनिका के समान तुकान्त गद्य वाली रचना है। अत के तुक मिलने के कारण और शब्दों की सीमितता से यह गद्य शैली काव्य जैसी ही लगती है, इसलिए इसे काव्यगत सलोका छंद कह सकते हैं।

रघुनाथ रूपक मे सलोकों की शैली का उदाहरण इस प्रकार है —

> बोले सीतापत इसड़ी जी वाणी, सुरनर नागां ने लागै सुहाणी ॥
> सेसाजल हणमन्त जिमही सरसाई, वीरां अवरां री कीधी बड़ाई ।
> धनुधर रा वायक साँभल जोधारा, पोरस अंगों में वधियो अणपारा ॥
> पुणवै कर जोडी जीतव फल पायो, मांनै श्री खांवद इतरो फुरमायो ॥

सत्रहवी शताब्दी से अब तक के रचित सभी सलोके इसी शैली में रचे गये हैं।

प्राप्त सलोकों की सूची

१. अष्टापद सलोको — विनीत विमल — सं. १७३३ के पीछे
२. आदिनाथ सलोको — ” — सं. १७३६ से पूर्व प्र. श्लोका संग्रह
३. विमलमेतानो सलोको गा १९७ उदयरत्न सं. १७६५ रेड़ा
४. ऋषभदेव सलोको — जिनहर्ष — १८ वी शताब्दी
५. कल्याणजी सलोको गा. २३ — माधव — अभय जैन ग्रंथालय
६. केशरियाजी रो सलोको गा. ११ — उत्तमचद — स. १८५६ कांति सागर संग्रह
७. क्रोध सलोको — प्र. सज्झायमाला
८. चन्दराजा रो सलोको गा. ५१ — कन्नीराम — सं १८१५ प्र. श्लोका संग्रह
९. जैसलमेर चढ़ती दसा रो सलोको रामचन्द्र — सं १८:८ — अभय जैन ग्रन्थालय
१०. झूठाजी तपजी रो सलोको

११. नेमिनाथ सलोको गा. ४८ राजलाभ सं. १७५४
१२. ,, ,, गा. ४६ जिनहर्ष
१३. ,, ,, उदयरत्न
१४. ,, ,, गा. ६५ विनीत विमल
१५. ,, ,, मोती मालू सं. १७६८
१६. ,, ,, देवचन्द सं. १६००
१७. ,, ,, गा. ५३ प्र. स्तवन संग्रह
१८. ,, ,, गा. २८ प्र. श्लोका संग्रह
१९. ,, ,, गा. ६ प्र. गोविन्द भनसाली
२०. नेमी राजुल सलोको कुशलविजय सं. १७५६
२१. पार्श्वचन्द्र सूरि सलोको मेघराज
२२. पार्श्वनाथ सलोको जोरावरमल सं. १८५१
२३. ,, ,, गा. २६ गोपाल
२४. ,, ,, गा. ३७ दौलत सं. १८४०
२५. भरत बाहुबली सलोको उदयरत्न प्र. श्लोका संग्रह
२६. मान सलोको प्र. सज्झाय संग्रह
२७. माया सलोको प्र. ,,
२८. मेघकुमार सलोको गा. ७५ महानन्द सं. १८२३
२९. लोकांशा सलोको प्र. लोकांशाह
३०. लोभ सलोको प्र. सज्झाय संग्रह
३१. वासुपूज्य सलोको गा. ४०
३२. विजयलक्ष्मी सूरि सलोको जिनेन्द्र सागर
३३. विमल मंत्री सलोको गा. १११ विनीत विमल १८ वीं शताब्दी प्र. सलोका संग्रह
३४. विवेक विलास सलोको देवचन्द्र १६३० प्र. श्लोका संग्रह
३५. शालीभद्र सलोको सिंह १७८१ प्र. रत्नसागर
३६. ,, उदयरत्न १७६० प्र. सलोका संग्रह
३७. ,, गा. ४४ अभय जैन ग्रंथालय
३८. ,, ऋषि खोडा प्र. जैन सज्झाय संग्रह

३९. शालिभद्र सलोको			
४०. संखेश्वरजी का सलोका	उदयरत्न	१७५९	प्र. श्लोका संग्रह
४१. ,,	देवविजय	१७८४	,,
४२. शांतिनाथ सलोको गा. ४३ मणिविजय			
४३. सिद्धाचल सलोको संघवी प्रमजी	अमरविजय	१७७०	
४४. हीरविजय सूरि सलोको	विद्याधर		प्र. जैन युग
४५. सरस्वतीजी रो सलोको			

जैनेतर सलोके

१. भाणनो सलोको	गंगादास	१७६३	
२. रणछोड़ जी नां सलोको	सामल भट्ट	१७८१	
३. रूस्तम नां सलोको	,,	१७८१	
४. सीतराम रावण सलोको गा. १९			प्र श्लोका संग्रह
५. शंकर महादेव सलोको गा. ११			,,
६. माधवराव जी रो सलोको गा. १६		सं. १८५७ माघ वदी ५	,,
७. रामसापीर रो सलोको गा. १२			,,
८. चांपावत सवाईसिंह सलोको गा. २९			,,
९. भीमसिंह जी रो सलोको गा. २३			,,
१०. लक्ष्मणजी रो सलोको गा. २२			,,
११. भैरूंजी रो सलोको गा. ३		१८५२	अभय जैन ग्रंथालय
१२. सूरजजी रो सलोको			,,
१३. रामदेवजी रो सलोको	अगरचंद	सं. १८१०	,,
१४. कुशलसिंह जी रो सलोको			,,
१५. अमरसिंह राठोड़ रो सलोको			,,
१६. बालाजी रो सलोको			,,
१७. अजीतसिंहजी रो सलोको			,,
१८. जैमलजी रो सलोको			,,
१९. जाभांजी रो सलोको			मोतीचन्द खजांची संग्रह में
२०. अमरचन्द सुराणा रो सलोको			

करीब ३५-४० वर्ष पूर्व प्रतापसागर पुस्तकालय जालना से "मारवाड़ी व्याह में बोलने का सलोका" नाम से एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें १८ सलोके प्रकाशित हैं। उनमें से एक को छोड़कर सभी के कर्ता पूनमसिखवाल (डेंडा निवासी विप्र) है जिसने सं० १९७२ से १९७५ तक में प्रकाशित किये हैं। केवल जाति सुधार का सलोका रामकिशन ने सं० १९७३ जेठ वदी १३ को शोलापुर में बनाया है, वह इस सग्रह मे छापा है। पूनमचन्द रचित सलोकों के नाम इस प्रकार हैं।

१. गणपति जी रो सलोको	१०. बाप बेटी रो सलोको
२. सुधार ,,	११. वेश्या रो ,,
३. फलोधी माता ,,	१२. लक्ष्मीनारायण ,,
४. शंकर महादेव ,,	१३. सतीमाता ,,
५. रामसापीर ,,	१४. कलजुग प्रवाह ,,
६. कृष्णमुरार ,,	१५. सीतारामजी ,,
७. रुक्मणी मंगल ,,	१६. राम लक्षमण सलोको
८. कालीनागदमण सलोको	१७. पञ्च सभा रो सलोको
९. बाप बेटी रो सलोको	१८. छोटे कंथ री स्त्री रो सलोको

जोधपुर से खत्री भीखमचन्द बुकसेलर ने सलोका संग्रह प्रकाशित किया है पर वह मेरे अवलोकन में नहीं आया है। और भी कतिपय स्वतन्त्र सलोको के सग्रह एवं कई 'मुकलावा बहार' आदि संग्रह ग्रंथों में (सलोके) प्रकाशित हुए है।

ख्याल संज्ञक काव्य

सभी क्रियाओं का उद्देश्य किसी अभाव व आवश्यकता की पूर्ति ही होता है। कई प्रवृत्तियें पूर्व अभ्यास एव अनुकरण से की जाती हैं तो कई इच्छा की उत्कटता से अभावों और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए। कुछ प्रवृत्तियां जीवन धारण के लिये अनिवार्य होती है तो कुछ जीवन को सरस बनाने के लिये स्वीकार की जाती हैं। नाटक, खेल आदि इसी दूसरी प्रकार की प्रवृत्ति मे सम्मिलित हैं। मानव-जीवन में कर्त्तव्य है तो क्रीड़ायें भी हैं।

नाटक-खेल मानव जीवन को सरस बनाने के लिये बहुत आवश्यक होने से प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान रूप से प्रिय हैं। इसलिए इसको विशुद्ध लोक-कला कहा जा सकता है। जब से मानव में सुख-दुःख की अनुभूति का विकास हुआ तभी से उसमे थोड़े समय के लिये भी जिनसे मनोरंजन व आनन्द की प्राप्ति हो, उनको अपनाने मे प्रवृत्त होना स्वाभाविक है।

उपलब्ध भारतीय साहित्य मे नाट्य कला के सम्बन्ध में व्यवस्थित रूप से प्रकाश डालने वाले सबसे प्राचीन भरत मुनि है। उन्होंने नाटक की उत्पत्ति के संबंध में अपने निम्नोक्त विचार नाट्य शास्त्र में प्रकट किये है :—

"सुदूर प्राचीन काल में सत्य युग में दुःख और पीड़ा जैसी अनुभूतियों से लोग सर्वथा अपरिचित थे और इनके अभाव में आनन्द सदृश्य किसी अनुभूति की भी उन्हें कल्पना नही थी। फलतः उस युग मे आनन्द के साधनों की भी कोई भी आवश्यकता नहीं थी। समय ने पलटा खाया। काम और लोभ के वशीभूत होकर लोग अनाचार में प्रवृत्त होने लगे। ईर्ष्या, क्रोधादि की भावना के कारण उनमे सुख और दुःख की अनुभूति होने लगी। लोगों को इस प्रकार पीड़ित देख कर इन्द्रादि देवता ब्रह्मा के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया कि एक ऐसा खेल बनाइये जो आखों से देखा जा सके और कानों से सुना भी जा सके। वेदों के द्वारा दिया हुआ उपदेश एक तो रूखा सा होता है, अतः वह लोगो के हृदयों के स्पर्श नही कर पाता। दूसरे, समझ की कमी के कारण शूद्रादि उसका प्रयोग नही कर सकते। अतः आप सभी वर्णों के उपयोग में आने योग्य एक नवीन पंचम वेद की रचना

करिये। इस पर तत्वज्ञ ब्रह्मा ने चारो वेदों का स्मरण कर धर्म, अर्थ और मोक्ष को देने-वाले इतिहास के साथ-साथ उपदेश से युक्त लोगों को लोक व्यवहार का आदर्श सिखाने वाले नाट्य नामक वेद की रचना की जिसमे सभी शास्त्रों का निष्कर्ष लिया गया था और जिसमें सभी शिल्पो का प्रदर्शन आवश्यक था। ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद), सामवेद से गीत, यजुवद से अभिनय और अथर्ववेद से रस, इस प्रकार चारो वेदो से सामग्री लेकर नाट्य वेद का निर्माण किया गया। प्रत्यक्ष ब्रह्मा से आविभूत होने के कारण इस कृति को पंचम वेद कहा गया है।''

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नाटक की उत्पत्ति जन साधारण के लिये हुई थी। नाटक का उद्देश्य वतलाते हुए भी भरत ने लिखा है कि वह सर्वोपदेश और लोकहित के लिए ही है। नाट्य कला एक ओर दुखार्त, श्रमार्त एव शोकार्त के लिये विश्राम जनक एवं मनोरंजक होती है तो दूसरी ओर लोक ज्ञान वर्द्धक भी, क्योकि कोई भी ज्ञान, शिल्प विद्या, कला या योग ऐसा नही, जिसका प्रयोग नाट्य अभिनय मे न होता हो। नाटक के कई तत्व होते है।

१. सवाद २. गीत ३. अभिनय और ४. रस

इससे इसका क्षेत्र कितना व्यापक है इसका भली-भाति वोध हो जाता है। साहित्य, संगीत और कला इस त्रिवेणी सगम का यह अद्भुत संयोग है।

प्राचीन जैनागमों मे भी प्राचीन मानव संस्कृति के विकास की ऐसी ही कथा पाई जाती है। उनके अनुसार प्राचीन मानव युगलिक रूप से उत्पन्न होते थे, उनकी आवश्यक-ताएं वहुत ही सीमित थी और वृक्षों के द्वारा उनकी पूर्ति हो जाती थी। उन वृक्षों की संज्ञा 'कल्पवृक्ष' पाई जाती है। आज भी जिससे मनोवाञ्छित प्राप्ति होती है उसकी उपमा या विशेषता कल्पवृक्ष से दी जाती है। उस समय परस्पर कलह-झगड़े का कोई कारण नही था। लोकजीवन एक वंधी लाइन पर चल रहा था। समय ने पलटा खाया। कल्पवृक्षों की फलदातृ शक्ति क्षीण होती चली गई। इधर मनुष्य की क्षुधा आदि आवश्यकताएं बढने लगी। इसी से पारस्परिक कलह और झगडों की उत्पति हुई। इसी संक्रान्ति काल में भगवान ऋषभदेव का अवतार हुआ। उन्होने प्राचीन परपरा मे सुधार किया और संस्कृति तथा सभ्यता का विकास करने के लिये पुरुषो को ७२ और स्त्रियो को ६४ कलाएं सिखाई। अपनी जेष्ठी पुत्री ब्राह्मी को जिस वर्णमाला की शिक्षा दी उसका नाम ब्राह्मी लिपि है और जेष्ठ पुत्र भरत को नाट्यकला की शिक्षा दी जिससे भरत नाटक

प्रसिद्ध हुआ। "वसुदेव हिंडी" नामक पांचवीं शताब्दी के प्रचीन कथा ग्रन्थ में इसका उल्लेख पाया जाता है।

संगीत और नाटक मानव को ही नही परन्तु पशु जगत को भी प्रभावित करते हैं। देवों का जहां वर्णन मिलता है वहां तो मानो उनका अधिकाश समय नाटक खेल देखने में ही व्यतीत होता है ऐसा वर्णन पाया जाता है। वे नाटक बडे दिव्य होते हैं और दीर्घकाल तक चलते रहते है। भगवान महावीर के समय उनके एक भक्त देव सूर्याभ ने आमलकप्पा नगरी में भगवान महावीर के पास आकर बत्तीस प्रकार के नाटक खेले थे। जिनका बहुत ही सुन्दर वर्णन रायपसेणीय नामक उपांग सूत्र मे सौभाग्य से सुरक्षित रह गया है। अभी तक ऐसा विशद नाट्य वर्णन दूसरे ग्रन्थों मे नही पाया जाता। इसलिये यहां उसका सारभाग दिया जा रहा है।

"सूर्याभदेव ने भगवान महावीर को वंदना नमस्कार करके विनती की कि भगवन्! आपतो सर्वज्ञ है। भूत, भविष्य और वर्तमान के भावों, घटनाओं और मेरी दिव्य देव द्युति ऋद्धि-सिद्धि सब को जानते हैं पर गौतमादि श्रमण निर्ग्रंथों को मैं ३२ प्रकार की नाट्यकला दिखाकर अपनी भक्ति प्रदर्शित करने की इच्छा रखता हूँ। महावीर मौन रहे। तब सूर्याभदेव दो तीन बार अपने वाक्यों को दुहरा कर, तीन प्रदक्षिणा देकर नाटक की तैयारी करने लगा। उसने उत्तर, पूर्व और ईशान कोण में जाकर वैक्रिय समुद्घात द्वारा एक लंबा डड निकाल कर सारी सामग्री सर्जित की। नाटक के लिये एक गोलाकार स्थान को सज्जित किया, उसके बीच में नाटकशाला खड़ी की। सिंहासन, छत्र आदि सभी वस्तुओं को यथा स्थान सज्जित किया। फिर महावीर को प्रणाम करके स्वयं उनके सामने सिंहासन पर बैठ गया। अपने दाहिने हाथ को प्रसारित कर उसमें से समान रूप-लावण्य वाले वस्त्राभूषणों से सुशोभित १०८ देव कुमारों को प्रकट किया और बायें हाथ से इसी प्रकार १०८ देव कुमारियों को। फिर ४६ प्रकार के १०८-१०८ वाद्य यंत्र और उतने ही उनके बजाने वालों को प्रकट किया। तदन्तर देवकुमार और देव-कुमारियों को उसने आज्ञा दी कि महावीर एवं गौतमादि सभी निग्रंथों को प्रणाम कर ३२ प्रकार के नाटकों का प्रदर्शन करो। तब वे सूर्याभ के आदेशानुसार एक पंक्ति मे खड़े होकर भगवान की वंदना करके वाद्य यंत्र बजाने लगे और नृत्य करने लगे। उन्होंने मंद और मधुर स्वर से संगीत प्रारम्भ करके नाट्यशाला को गुंजारित कर दिया और फिर श्रीवत्स, नंदावर्त्त, वर्द्धमान, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण आदि नृत्यों का प्रदर्शन किया।

इसी प्रकार अन्य ३० नाट्यकलाओं का प्रदर्शन करने के बाद ३२ वें प्रदर्शन में भगवान महावीर के पूर्व भव से प्रारम्भ कर निर्वाण तक अभिनय कर दिखाया।

इस प्रसंग मे रायपसेणी सूत्र मे जिन नाट्यों का वर्णन हैं वे बड़े अद्भुत हैं। उनमें से कुछ का वर्णन तो भरत नाट्य शास्त्र में आता है, पर कई नृत्यों की परम्परा भरत नाट्य के निर्माण तक लुप्त हो गई मालूम होती है। अन्त मे चार प्रकार के वाद्य तत्, वितत्, घननक्कर और शुषिर एवं चार प्रकार के सगीत उत्क्षीप्त, पादवृद्ध, मंद और रोचित और चार प्रकार के नृत्य, अंचित, रिचित, आरभट और भसोल और चार प्रकार के अभिनय दार्ष्टांतिक, प्रात्यतिक, सामान्य, नोपनीपातनिक और लोक मध्यावसायनिक का प्रदर्शन किया।

अभी तक कोई भी इतना प्राचीन नाटक तो उपलब्ध नही हुआ इसलिए जन साधारण के प्राचीन नाटकों का पूर्व रूप कहा था? स्पष्ट नहीं बताया जा सकता। विक्रम संवत् के प्रारम्भ के लगभग से संस्कृत के नाटको की उपलब्धि होने लगती है। इन नाटकों में स्त्रियों के कथोपकथन प्राकृत भाषा मे दिये है, इससे जन साधारण के निकटवर्ती रहने का प्रयत्न परिलक्षित होता है। मध्यकाल में संस्कृत नाटक तो रचे जाते ही रहे हैं, पर साधारण जनता के लिए लोक-भाषा में रास, चर्चरी, फागु आदि काव्य रचे जाने लगे थे, जो गेय के साथ अभिनेय भी थे। किसी मागलिक प्रसंग, उत्सव, गुरुओं के आगमन, मन्दिरों की प्रतिष्ठादि प्रसंग में जनता इन्हे खूब रस से गाती थी और डडियों के खेल और तालियों के साथ नृत्य किया जाता था। उस समय के रचे गये ग्रन्थों मे इनका स्पष्ट उल्लेख है। वाग्भट्ट और हेमचन्द्रसूरि ने रासक का लक्षण बतलाते हुए उसे उपरूपक बतलाया है:—
'डोम्बिका भाण— प्रस्थान—भाणिका—प्रेरण—शिंगक—रामा—क्रीड़—हल्लीसक—श्रीगदित रासक—गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि।' इसकी वृत्ति में लिखा है कि "पदार्थाभिनय स्वभावानि डोम्बिकादीनि गेयानि रूपकाणि चिरंतनैरुक्तानि।"
रासक का लक्षण:— "अनेक नर्तकी योज्यं चित्र ताल लयान्वितम्।

आचतुःषष्टि युगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥

अर्थात जिसमें नर्तकियें अनेक हों, अनेक प्रकार के ताल और लय हों, परन्तु जिसमें ६४ तक युगल हो ऐसा कोमल और उद्धत गेय 'रासक' है।

१२वी से १५वी शतीतक के रास, चर्चरी, फागु संज्ञक काव्यों में उनके खेले जाने का उल्लेख मिलता है। सं० १३२७ के सप्त क्षेत्रि रास में लिखा है कि—

"बइसइ सहूइ श्रमणसंघ सावय गुणवंता।
जोयइ उच्छावु जिणह भुवणि मनि हरष धरंता।
तीछे तालारस पड़इ बहु भाट पढ़ंता।
अनइ लकुटारस जोईई खेला नाचंता ॥४८॥
सविहू सरीखा सिणगार सवि तेवड़ तेवड़ा।
नाचइ धामीय रंभरे तउ भावइ रूड़ा।
सुललित वाणि मधुरि सादि जिण गुण गायंता।
ताल मानु छदपीत मेलु वाजित्र वाजता ॥४९॥

अर्थात जैनमन्दिरों के उत्सव-प्रसंग से श्रावक श्राविका हर्ष के साथ एकत्रित होते और तालियों के साथ एवं डाडियों के खेल के साथ रास खेले जाते।

इसमें स्त्रिया भी भाग लेती थी और रात्रि को भी ये बहुत देर तक खेले जाते थे। अतः इस कार्य को सुविहित मार्गानुयायी मुनियों ने उचित नहीं समझा। विशेषतः खरतर गच्छ के आचार्यों ने इसका तो निषेध किया। सं० १३२७ में रचित सम्यक्तव माई चौपाई में भी इसका सूचन मिलता है।

"तालारासु रयणि नहु देइ लउडारासु मूलह वारेइ।" अर्थात तालियों के साथ रास का खेलना रात को न किया जाये और डांडियां लकड़ियों के रास को तो मूलतः वर्जित किया जाता है।

फागु काव्य वसन्त ऋतु मे विशेषतः फाल्गुन या चैत्र में खेले जाते हैं। स्थूल भद्र फागु में इसका स्पष्ट उल्लेख है :—

"खेला नाचइ चैत्रमासि रंगिहि गावेवउ बहू।"

'विवाहले" काव्यों मे भी उनके रमे जाने व खेले जाने का उल्लेख मिलता है। जिनेश्वर सूरि विवाहले मे लिखा है— एह विवाहलउ जे पढ़इ, जे दिया हि खेला खेलहि रंग भरे" और रास संज्ञक काव्यों में तो उनके रमने और खेले जाने का उल्लेख अनेक स्थानों में है।

पेंथड रास में :— "रास रमेवउ जिन भुवणि ताल मेल ठवि पाउ,"

अभय तिलक रचित महावीर रास में :—

"पभणिसु वीरह रासुलउ, खेलहि मिलव कराविउ

जिनोदयसूरि पट्टाभिषेक रास में :— "रमउ रासु इहु रंगि।"

रास रमे जाने का अन्तिम उल्लेख सं० १४८९ में रचित उपाध्याय जयसागर के वयर स्वामी रास मे मिलता है "उच्छव मंगल रास रमिजै।"

जैनाचार्यों के नगर प्रवेशोत्सव के समय रास एवं चर्चरी के दिये जाने और धवल मंगल गीतों के गाये जाने का उल्लेख युग प्रधानाचार्य गुर्वावली मे अनेकों वार किया गया है। सम्राट पृथ्वीराज की सभा में शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर जिनपति सूरि पोषधशाला मे पधारते हैं तब रास्ते मे चर्चरी दिये जाने और धवलो के गाये जाने का उल्लेख किया है :—

"पुर मध्ये स्थाने स्थाने रंगभरेण प्रेक्षणीयके निष्पद्यमाने,
दाने च व्याप्रियमाणे, चच्चर्यां दीयमानायां, धवलेषु गीयमानेषु:,

सं० १३३७ बीजापुर मे वासुपूज्य जिनालय के महोत्सव प्रसंग पर लिखा गया है :—

स्थाने स्थाने प्रमुदितजनेन दीयमानेषु प्रधानरासकेषु,
नानाविपणि मार्गेषु गीयमानेषु विवध-प्रवर चर्चरी श्रेणि शतेषु,

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जन साधारण में जो मध्यकाल मे रास, चर्चरि, फागु आदि रमे व खेले जाते थे वही पीछे से रमत, रामत, खेल, ख्याल के रूप में प्रगटित हुए।

श्री उदयशंकर शास्त्री ने देशबन्धु वर्ष २ अंक ७ प्रकाशित अपने लेख मे लिखा है कि— ऐसा कहा जाता है कि १८वी शती के प्रारंभ के आसपास ही आगरे के इर्द-गिर्द एक नई कविता शैली प्रचलित हो चली थी, आगे चलकर जिसका नाम ख्याल पड़ा। ख्याल निश्चित ही उर्दू और फारसी के मसाले से तैयार चीज थी। उसको नये नये कथानकों में बाधना सबका काम नही होता था.। आगरे में इन ख्यालियों के कई दल, जिनमें सभी प्रकार के लोग थे और सभी प्रकार की बंदिशें बांधने वालो के गोल कभी कभी होड़ भी लगाने लगते थे।

१५वी शताब्दी तक के रास साहित्य को देखने पर अधिकाश रास छोटे छोटे ही मिलते हैं उनका उद्देश्य खेले जाने में सुविधा रहे, यही प्रतीत होता है। अधिक लंबे रास एक दिन मे व एक खेल मे समाप्त नही किये जा सकते हैं और खेल देखने वाले प्रायः यही चाहते हैं कि एक दिन में ही वह समाप्त हो जाय। १५वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बड़े बड़े रास रचे जाने लगे तब से वे चरित काव्य के रूप में परिणित हो गये। इस समय

से १८वी शताब्दी तक जन साधारण के खेल तमासे के रूप मे किन काव्यों का प्रचार रहा एवं खेल किस प्रकार से खेले जाते थे ? इसका कोई ठीक ठिकाना नहीं है। रासकों की परम्परा रासलीला एवं गर्बा इत्यादि के रूप में आज भी चल रही है। लोक-भाषा में रचित प्राचीन नाटक तो बहुत ही कम मिलते हैं।

श्री उदयशंकर शास्त्री ने ख्यालों का प्रारम्भ १८वी शताब्दी व से आगरे के आसपास के प्रदेश से होना माना है पर १८वीं शताब्दी के रचित ख्याल संज्ञक काव्य कोई भी उपलब्ध नही है। संभव है वे छोटे रूप में हों और मौखिक प्रचलित रहे हों।

जहां तक राजस्थान में लिखित ख्यालों के प्रचार का प्रश्न हैं मेरे ख्याल से १९वी शताब्दी के से ही इनका प्रचार हुआ होगा। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर की एक हस्तलिखित प्रति मे मारवाडी में ख्याल लिखा मिलता है पर वह थोड़े से पद्यों का ही है। संभवतः यह प्रति १९वीं के उत्तरार्द्ध या २०वी के प्रारभ की होगी। श्री मोतीचन्द जी खजांची के संग्रह में हीर रंजा के तमासे की एक छोटी प्रति देखने को मिली है जो १९वी के उत्तरार्द्ध की है।

प्रकाशित मारवाड़ी ख्यालों में जहां तक मुझे ज्ञात हुआ है Scotch Presbyterian Mission ब्यावर की प्रकाशित एवं पादरी रोब्सन के सम्पादित 'मारवाड़ी ख्यालाज' पुस्तक ही सर्वप्रथम है। यह पुस्तक प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नही हो सकी। पर इसमें प्रकाशित 'डूंगजी जवारजी" के ख्याल के कई उद्धरण "S. H. kellogg के "A Grammar of the Hindi language" पुस्तक में देखने को मिलते है।

लोक कला के गतांक में श्री मनोहर शर्मा का "राजस्थान के लोक-नाटक-ख्याल" नामक एक सुन्दर लेख प्रकाशित हुआ है। उसमे उनके देखने में आए हुए प्रकाशित ६६ ख्यालों की नामावलि भी दी गई है। पर ख्याल तो सैकड़ों की संख्या में हैं। राजस्थान के जोधपुर, भरतपुर, जयपुर, किशनगढ़, कुचामन, जैसलमेर के अतिरिक्त ब्यावर, मथुरा से ही नहीं पर सुदूर कलकत्ता, बम्बई व मध्यभारत से भी राजस्थानी जनता में विक्रय के लिये वहु संख्यक ख्याल प्रकाशित हुए हैं। इनमे से कइयों में उनके रचयिता का निर्देश नहीं है पर रचयिता के निर्देश वाले ख्यालों से उनके रचयिता बहुत प्रचुर संख्या में हैं और विभिन्न जाति वाले है सिद्ध होता है।

ख्याल राजस्थानी लोक–साहित्य का एक अविभाज्य अंग है। इसमें वास्तविक

रूप में संगीत है। वाद्य, नृत्य, एवं गीत की त्रिवेणी में स्नान करके जनसाधारण की आत्मा बड़ी ही प्रसन्न होती है। ख्यालों में ये तीनों ही अपनी विशेषता के साथ प्रयुक्त होते हैं। ये गीत नाटक राजस्थान की महाप्राणता के अनुरूप भी है। साधारण आदमी के लिये इनका अभिनय बड़ा कठिन है। इनके लिये गायक के गले में शक्ति होना जरूरी है। इसी जोर के लिये प्रत्येक गायक मंच पर आते ही सर्वप्रथम शारदा की वंदना करते हैं। ख्याल के गायकों में गुरु के प्रति भी अपार श्रद्धा मिलेगी। वे गुरु का नाम लेकर ही अखाड़े में नाच प्रारम्भ करते हैं। यह मंगल-प्रेरणा भी ख्यालों की एक विशेषता है। फिर भी खेद है कि लोक—साहित्य के अन्य अंगों की तरह ख्यालों के प्रति भी लोगों का ध्यान कम होता जा रहा है। साहित्य शोधकों का कर्तव्य है कि इस रस धारा को सूखने न दें। अब ख्यालों को नया जीवन मिलना चाहिये। उनके नये नये प्रसंगों का प्रयोग होना चाहिए। राजस्थान के लोगों के पास महापुरुषों का संदेश पहुँचाने में ये ख्याल बड़े ही सहायक सिद्ध हो सकते हैं। वास्तव में इसी भावना को ये ख्याल निभाए भी चले आ रहे हैं। प्रत्येक युग के विशिष्ट पुरुषों के जीवन पर ख्याल बने हैं और उनका अभिनय हुआ है। पुस्तकें बदलती रही है, परन्तु अभिनय का रूप वही प्राचीन चला आ रहा है। लोक जीवन को ऊँचा उठाने का यह एक आम साधन है। किसी देश की वास्तविक उन्नति उसके लोक जीवन का उत्थान ही है।

प्रकाशित ख्यालों की अकारादि क्रम से सूची

१. अमरसिंह — मोतीलाल
२. अमरसिंह हाडी रानी — उजीरा
३. अमरफल भर्तृहरि को
४. अमलदार
५. अष्टपदी
६. आनन्दी गणपति — पूनमचन्द
७. इन्द्रसभा — नानू
८. इन्द्र कुंवर — नानू
९. उद्धव गोपिका — पूनमचन्द
१०. कलजुग
११. कत्थे चूने का — गणेश वैद्य
१२. काकी जेठूता
१३. केसरीसिंह का ख्याल — फूलादक केसरी सिंह
१४. केसर गुलाब का ख्याल
१५. केसरीसिंह — वंशीधर शर्मा
१६. कुन्दनमल
१७. खटपटिया का — पूनमचन्द
१८. खींवजी आभल दे — नानूलाल
१९. ख्याल दोहा पाली संग्रह
२०. ख्याल दसमासिया
२१. ख्याल मारवाड़ी गीत

२२. ख्याल सुन्दर नगीना
२३. ख्याल निहालदे का बड़ा
२४. ख्याल नागदे
२५. ख्याल गोपीचन्द भरथरी
२६. ख्याल सालंगा सदावृक्ष
२७. ख्याल मणियार
२८. ख्याल रिसाल वेला दे
२९. ख्याल रिसालू कामदे
३०. ख्याल काकी जेठूते का
३१. ख्याल शनिश्चर का
३२. गोपी चन्द — मोतीलाल
३३. गोगा चौहान
३४. गोपीचन्द — मोतीलाल
३५. गांधी इतरफरोस — नानू
३६. गुल जरीना — अकबर
३७. गेंदपाल गजांरादे
३८. चकवै वैरा — नानूलाल
३९. चन्द्र मलयागिरी – लच्छीराम
४०. चितारा चितरंगी
४१. चन्द्र प्रताप भानजी
४२. चन्द्र कुंवर फूल कुंवर
४३. चत्र मुकुट
४४. चतुर छैला — ब्रजलाल
४५. छेला पनिहारी
४६. छोटा कंथ को
४७. छैला दिलजान को
४८. छोटा बालम — पूनमचन्द
४९. जगदेव ककाली — नानू
५०. जोहरी का ख्याल – झालीराम निर्मल
५१ जूटी खतराणी
५२. ज्यानालम मंजुनारा – गंगाबक्स
५३. जाट को ख्याल — गोविन्दराम
५४. जैमल
५५ डूंगरसिंह का ख्याल
५६. डूंगरजी भुंवारजी को
५७. ढोला मखण — नानू
५८. ढोला सुलतान निहालदे कोख्याल
५९. तेजाजी को ख्याल
६०. तेजाजी जाट को — पूनमचन्द सुखवाल
६१. तारासिंह खासापरी —पूनमचन्द
६२. दो गोरी का बालमा
६३. देवर भौजाई
६४. दयाराम धाड़वी — प्रहलादीराम
६५. देव नारायण चरित्र
६६. देवर भाभी का
६७. देवरानी जिठानी का
६८. दुल्लो धाड़ी
६९. ध्रुव जी का ख्याल — डालूराम
७०. नल दमयंती
७१. नणद भौजाई—नानू
७२. नलराजा—नानू
७३. नागजी, मारवाड़ी ख्याल
७४. नेनें खसम को ख्याल—तेज
७५. नरसी मेहता

७६. नागजी नागवंती को

७७. निहालदे सुलतान को

७८. निहालदे मारवाड़ी को

७९. नोटंकी मारवाड़ी को

८०. नागौरी छैला

८१. नशाबाज का—पूनमचन्द

८२. पठाण सहजादी—नानू

८३. पंचफूलारानी या ख्याल
आसाडाबी को—भगवानदास

८४. पन्नावीरमदे —वजीरा

८५. पंजाबी हकीम—पूनमचन्द

८६. पूरण भगत—नानू

८७. पूरणभगत का मारवाड़ी ख्याल
—वंशीधर

८८ पाबूजी राठोड—बंशीधर

८९. पणियारी लखेरे का ख्याल

९०. पारस पीताम्बर

९१. पृथ्वीराज

९२. प्रह्लाद चरित

९३. बूढ़ा बालम का ख्याल

९४. बनलीला

९५. बगड़ावत भारत का

९६. बूढ़ा बनडा का ख्याल—
जगन्नाथ उपाध्याय

९७. बिक्रम ससि कला

९८. बनजारा

९९. बैटा बादस्याह सहजादी—नानू

१००. बुढ़ापे के ब्याह का ख्याल

१०१. वज्रमुकुट पदमभावती—वजीरा

१०२. बलजी भूरजी—कज्जू

१०३. बूढो वींद—गजानन्द

१०४. भर्तृहरि—तेजकवि

१०५. भूलिया भटियारिन

१०६. भंवर चमेली—पूनमचन्द

१०७. भोज भानमती

१०८. भरथरी पिंगला सतवंती—पूनमचंद

१०९. भक्त सुदामा—पूनमचन्द

११०. मालदे हाडीरानी—वजीरा

१११. मूमल महेंदरे का—तेजकवि

११२. मोरध्वज को ख्याल

११३. मीरा मंगल— लच्छीराम

११४. मदनसेन चन्द्रकिरन

११५. माधवानल काम कंवला—वजीरा

११६. मुकलावा बहार

११७. मदनपालजी चन्द्रपरी—पूनमचन्द

११८. मंजकुंवर—पूनमचन्द

११९. रूपरतन रसफूला—पूनमचन्द

१२०. रामदेवजी का ब्यावला—पूनमचंद

१२१. राजा लखपत—बकसीराम

१२२. राजा भोज—बकसीराम

१२३. रोहतकुंवर को ख्याल

१२४. रामलीला को ख्याल

१२५. रानी निहालदे और कुंवर सुलतान
—पं० किशनलाल

१२६. राजा रिसालू—झालीराम

१२७. राजारिसालू नोपदे—झालीराम

१२८. राव रिड़मल —हरिकरण
१२९. रिसालू बालक दे
१३०. रामदेवजी का ख्याल
१३१. रुकमणी मंगल का खेल
१३२. रुकमणी स्वयंवर का खेल
१३३. रुकमणी हरण का खेल
१३४. राजा भोज भानमती
१३५. रिसालू वेलादे
१३६. राजा करण—प्रेमसुख भोजक
१३७. राणा रतनसिंह—चुन्नीलाल
१३८. रतन कुंवर चन्द्रावल
१३९. रिसालू रसवंती—पूनमचन्द
१४०. रिसालू वेलादे—पूनमचन्द
१४१. लैला मजनू पाक मोहब्बत—नानू
१४२. लंकावहन सीताहरण
१४३. विराट पर्व भाग पहला—नानू
१४४. विराट पर्व भाग दूसरा—नानू
१४५. विराट पर्व भाग तीसरा—नानू
१४६. विराट पर्व भाग चौथा—नानू
१४७. विक्रमादित्य को ख्याल
१४८. विजयसिंह को ख्याल
१४९. वीरमदे सोनगरी
१५०. विक्रम ससिकला—लालचन्द
१५१. विक्रमादित्य चन्द्रकला—पूनमचन्द
१५२. सीलो सतवंती
१५३. श्रवणकुमार
१५४. शाहजादे का—झाबरमल
१५५. शंकर कैलासी
१५६. श्याम कलिजा इंदु को
१५७. सत्यनारायण व्रत कथा—बंशीधर
१५८. सभापर्व अथवा चीर हरण—नानू
१५९. सीलकरणं सुवबुद सालंग्या
१६०. सुलतान मरवण भात का—भालीराम
१६१. सूरज कुंवर—फतहचन्द
१६२. सेठ सेठानी
१६३. सोलह वनजारे का
१६४. सोरठ बींझा को ख्याल
१६५. सती हेमकुमार
१६६. सुलोचना
१६७. सोने लोहे के झगड़े को ख्याल
१६८. सौदागर वजीरजादी—नानू
१६९. सासू बहू का ख्याल
१७०. साहिब तू सच्चा
१७१. सुलतान निहालो—वजीरा
१७२. सीलो सतवंती—गंगाबक्स
१७३. सेंघरामाजलदे—पूनमचन्द
१७४. सुधबुध सवलंगरा
१७५. सोरठ बींझा
१७६. सेठ मुनीम—नानू
१७७. सहजादे का खेल
१७८. सुलतान बादस्याह—नानू
१७९. सहजादा भटियारी—वजीरा
१८०. सैयदखां ऊंटवाल—घोंकलराम
१८१. स्यामी चेला—गोविंदराम
१८२. सहजादी
१८३. हरिशचन्द्र का बड़ा ख्याल—वजीर
१८४. हार रांझों—नानू
१८५. हेम कुंवर चरित
१८६. हरिश्चन्द्र तारामती
१८७. हकीम गरमी वाला
१८८. हमीरहठ
१८९. हरिश्चन्द्र तारादे

—हरिकरण

१६०. सुलतान मरवण भात का—भाली राम

१६१. सूरज कुंवर—फतहचन्द

१६२. सेठ सेठानी

१६३. सोलह बनजारे का

१६४. सोरठ बींझा री ख्याल

१६५. सती हेमकुमार

१६६. सुलोचना

१६७. सोने लोहे के झगड़े को ख्याल

१६८. सौदागर वजीरजादी—नानू

१६९. सासू बहू का ख्याल

१७० साहिब तू सच्चा

१७१. सुलतान निहालो—वजीरा

१७२. सोलो सतवंती—गंगावक्स

१७३ सैनरामानलदे—पूनमचन्द

१७४. सुधबुध सवलंगरा

१७५. सोरठ बींझा

१७६. सेठ मुनीम—नानू

१७७. सहजादे का खेल

१७८. सुलतान बादस्याह—नानू

१७९. सहजादा भटियारी—वजीरा

१८०. संपदसां ऊंटवाल—घोंकलराम

१८१. स्यामी चेता—गोविंदराम

१८२. सहजादी

१८३. हरिशचन्द्र का बड़ा ख्याल—ध.

१८४. हीर रांझो—नानू

१८५. हेम कुंवर चरित

१८६. हरिश्चन्द्र तारामती

१८७. हकीम गरमी वाला

१८८. हमीरहठ

१८९. हरिश्चन्द्र, तारादे

हियाली संज्ञक रचनाएं

जीव-जगत् के लिये बौद्धिक शक्ति प्रकृति की एक अनुपम देन है, जीवन में पग-पग पर बौद्धिक विकास की आवश्यकता का अनुभव होता है। बुद्धि के बिना शारीरिक बल भी विशेष कामयाब नहीं होता व बहुत सी बातें तो बुद्धि के द्वारा ही ठीक से सम्पन्न हो सकती हैं, वहां शारीरिक बल कोई काम नही देता। जीवन में अनेक बार हम ऐसी उलझनों में फंस जाते हैं कि हमें क्या करना चाहिए? इसका कोई मार्ग नहीं सूझता। बुद्धि उस समय हमें मार्ग प्रदर्शित कर उलझनों को सुलझाने में सहायता करती है। नित्य नये आविष्कार एवं ज्ञान-विज्ञान की खोज बुद्धि के द्वारा ही संभव है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव में बुद्धि विशेष रूप से विकसित पाई जाती है। छोटे से लेकर बड़े किसी भी काम में बुद्धिहीन एवं बुद्धिमान के समान रूप से करने पर भी उसकी प्रणाली की सुन्दरता व शीघ्रता से सुचारुता एवं भद्दापन, सफलता एवं विफलता का जो अन्तर नजर आता है वह बौद्धिक विकास की तारतम्यता के कारण ही।

वीरबल की प्रसिद्धि, उसकी हाजिर-जवाबी एवं कुशाग्रबुद्धि के कारण ही है। जैन साहित्य में महाराजा श्रेणिक और उनके पुत्र अभयकुमार के बौद्धिक चमत्कारों के उदाहरण मिलते हैं। जैन समाज के व्यापारी वर्ग अपने नये खातों में अभयकुमार के समान बुद्धि होने की कामना अंकित करते हैं। नंदीसूत्र में चार प्रकार की बुद्धियों का विवरण मिलता है, जिसके दृष्टान्त में, रोहक आदि के कई बुद्धिवर्द्धक दृष्टान्त टीकाकारों ने दिये हैं। 'चार प्रत्येक बुद्ध चरित्र' में एक चितेरे की लड़की ने किस प्रकार नित्य नई समस्यामूलक कहानियां कहकर अपने पति (राजा) को छः महीने तक नित्य उन कहानियों एवं उनमें आई हुई समस्याओं के परिणाम को सुनने के लिये आने को बाध्य किया, इसकी रोचक कथा पाई जाती है। 'उत्तराध्यन सूत्र वृति' मे उसकी कही हुई बौद्धिक चमत्कार सूचक कई कहानियों का संग्रह किया गया है, हमारे उस प्राचीन बुद्धिवर्द्धक साहित्य को अधिकाधिक प्रकाश में लाना अत्यन्त आवश्यक है।

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य भी बौद्धिक विकास ही होता है। समुचित बौद्धिक विकास होने पर वह व्यक्ति जिस किसी क्षेत्र में काम करेगा, उसे व्यवस्थित रूप से

संपन्न करके सफलता प्राप्त कर सकेगा। गणित-शास्त्र भी हमारी बुद्धि को तेज करने के लिये अच्छा साधन है, उसमें अनेक ऐसे सवाल आते हैं जो सीधे तौर पर हल करने में बड़े कठिन मालूम होते है, पर बुद्धि और गुर के द्वारा सहज ही हल किये जा सकते हैं। राजस्थान में जो गणित शिक्षा की परिपाटी प्राचीन काल से चली आ रही है वह बच्चों को बहुत शीघ्रता से लेखे और हिसाब में दक्ष बना देती है। उनकी ऊपर-वाड़ियें इतनी सफल है कि जिस हिसाब को अंग्रेजी पढ़ा-लिखा अर्थमेटिक के अनुसार घंटों में हल नही कर सकता और उसे अनेक कागज काले करने पड़ते हैं, वह मारवाड़ी 'मारजाओं' द्वारा शिक्षित छोटे छोटे बच्चे चंद मिन्टों में व मौखिक रूप से ही हल करके बता देते हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में उन सरल परिपाटियों की पूछ नही होने से हमारी वह विद्या दिनो-दिन कमजोर हो रही है, इसका भी हमें प्रचार, उद्धार व विकास ठीक से करना होगा।

राजस्थान में विवाह आदि के समय जामाता को सालियां ससुराल में रात्रि के समय उसकी बौद्धिक परीक्षा के लिये अनेक प्रकार की आडियें-पहेलियें-पूछती हैं, यदि जामाता उनका ठीक से उत्तर नहीं दे पाता तो उसे नीचा देखना पड़ता है और सालियें आदि उसे भोंदू समझ लेती हैं। इस समय गीत गाने-वाली स्त्रियां भी एक ऐसा गीत गाया करती है जिसमें अटपटी बातें (हियालियां) कही जाती हैं, उन समस्याओं का उत्तर जवाई से पूछा जाता है। आज कल तो हमारी कन्याओं में शिक्षा की कमी होने से उन आड़ियों की जानकारी बहुत सीमित ही होती है पर ये जैन-ज्ञान-भंडारों में लिखित रूप में सैकड़ों की संख्या में पाई जाती हैं। ऐसी ४०४ आड़ियों का एक संग्रह २७ वर्ष पूर्व बीकानेर से अयोध्याप्रसाद शर्मा ने 'आड़ी संग्रह' के नाम से प्रकाशित किया था। खोज करने पर और भी अनेक आड़ियां मिलेगी, जिनके संग्रह के द्वारा हमारे बौद्धिक विकास में बड़ी सहायता मिल सकती है। ये पहेलिया विविध प्रकार की होती हैं कुछ की संज्ञा 'गूढ़ा' है जिसमें-भाव गूढ (गुप्त) रहता है, कुछ गुरु- चेलों के दोहों के रुप में प्रसिद्ध हैं जिनमें तीन-तीन बातों का उत्तर एक शब्द द्वारा दे दिया गया है। ऐसे दोहों का कुछ संग्रह मैंने 'राजस्थान भारती' (भाग २ अंक १) में प्रकाशित किया था। कई सखियों से प्रश्न के रूप में भी ऐसे प्रश्न 'सउत्तरा' के नाम में पाये जाते हैं। श्रीयुत मनोहर शर्मा के राजस्थान की पहेलियों के संबंध में कई लेख राजस्थान भारती, वरदा आदि में प्रकाशित हो चुके है। इनमें लोक प्रचलित पहेलियो के विविध उदाहरण संग्रहीत हैं। अंतर्लापिका, बहिर्लापिका, समस्यापूर्ति

आदि रचनाएं भी बुद्धिवर्द्धक होती हैं।

राजस्थानी लोकवार्ताओं में भी कई वार्ताएं बड़ी बुद्धिवर्द्धक होती हैं जिनमें किसी समस्या का हल बड़े विचित्र बुद्धि-कौशल से कराया जाता है। मैंने ऐसी कई लोकवार्ताएं प्रकाशित की हैं। जिसमें से एक का शीर्षक है 'बाप से बेटा सवाया'। ऐसी और भी कई लोकवार्ताएं मिलती हैं, उनका भी संग्रह प्रकाशित होना चाहिए।

जैन कवियों के रास आदि ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में नवदम्पति एक दूसरे की बुद्धि परीक्षा और मनोरंजन दूहा, गूढा, छन्द, हियाली और चौबेली आदि की वार्ताएं कह कर किया करते थे। कवि समयसुन्दर ने 'नल दमयन्ती' चौपाई में नव-दम्पति के रात्रि के समय विनोदवार्ता करने के प्रसंग में कहा है :—

कब ही चौबोली कहे, दूहा गूढ़ा छन्द
हियाली हूंसे कहे, अहनिशि करे आनन्द ।।

'माधवनल-काम कंदला' प्रबन्ध आदि में भी दम्पति के इन्हीं बातों द्वारा मनोरंजन एवं समयनिर्गमन का उल्लेख मिलता है। कवि गणपति के माधवानल प्रबन्ध में बहुत सी पहेलियें प्रकाशित हैं।

जैन कवियों ने हियाली संज्ञक ऐसी बहुत सी रचनाएं की हैं जो बड़ी ही समस्यामूलक होती हैं। हियाली शब्द का सबसे प्राचीन उल्लेख प्राकृत भाषा के वजालग्ग ग्रन्थ में देखने को मिलता है जो करीब १२ वी १३ वीं शताब्दी का है। उसमें दी हुई हियालियों से परवर्ती प्राचीन राजस्थानी भाषा की हियालियें कुछ भिन्न प्रकार की हैं। इससे हमें हियाली के स्वरूप; विकास की जानकारी मिल जाती है। अभी तक १६ वीं शताब्दी के कवि देपाल की हियाली को ही प्राचीन समझा जाता रहा है। पर हमारे संग्रह में १५ वीं शताब्दी लिखित सुभाषित संग्रह की एक प्रति है। उसमें कुछ प्राचीन हियालियें व पहेलियें भी मिली हैं। बीकानेर के ज्ञान भंडार की एक संग्रह प्रति में भी हियालियें मिली हैं जो १४ वी शताब्दी की रचना है। १४ वी शताब्दी से १९ वीं शताब्दी तक के जैन कवियों के रचित हियालियें सैंकड़ों की संख्या में प्राप्त है जिनमें से कुछ का संग्रह हमने करीब ३२ वर्ष पूर्व किया था और अहमदाबाद से प्रकाशित 'जैन ज्योति' नामक मासिक पत्र में करीब ४० हियालियें प्रकाशनार्थ भेजी थी। उस पत्र के सम्वत् १९८९ के मिगसर के अंक में "जैन कवियों का हियाली साहित्य" शीर्षक हमारा लेख भी छपा था पर उसमें कविवर समयसुन्दर की दो हियालियें ही प्रकाशित हुई थी। हियाली संज्ञक रचनायें जैन कवियों की एक विशेष

बौद्धिक देन है — अतः इस लेख में से उनमें से दो चार उदाहरण के रूप में प्रकाशित की जा रही हैं। जिससे उनके स्वरूप का परिचय मिल जाएगा। कैसी खूबी के साथ उन्होंने किसी वस्तु के नाम निर्देश के अतिरिक्त सारी बातों का वर्णन करके पंडितों एवं श्रोताओं से उसके भावार्थ के बतलाने की मांग की है, यह इनके पढ़ने से विदित हो जायगा। पाठक नीचे दी हुई हियालियों से इन रचनाओं का रसास्वादन करें।

महाकवि समयसुन्दर १७वी शताब्दी के राजस्थान के एक प्रसिद्ध कवि हो गए है। यहां सर्व प्रथम उन्हींकी रचित दो हियालियें दी जाती हैं।

(१)

कहिज्यो पंडित एह हीयाली, तुम्हें छउ चतुर विचारी।
नारी एक अण अक्खर नामइं, दीठी नयर मझारी रे ॥१॥क०॥
मुख अनेक पणि जीभ नहीं है, नर नारी सु ं राचई।
चरण नहीं ते हाथे चालइ, नाटक पाखइ नाचइ रे ॥२॥क०॥
अन्न खायइ पणि पानी न पीयइ, त्रिपति न राति दिहाड़इ।
पर उपगार करइ पणि परतखि, अवगुण कोड़ि दिखाड़इ। ३॥क०॥
अवधि आठ दिवस नी आपी, हियइ विमासी जोज्यो।
समयसुन्दर कहइ समझी लेज्यो, पणिते सरीखा मति होज्यो ॥४॥क०॥

लेखक के संग्रह में (उत्तर : चालणी)

(२)

पंखी एक वनि ऊपनउ जी हो, आव्यो नयरि मझार।
आंखड़ली अणियालड़ी जी हो, देखइ नहिय लगार ॥१॥
हरियाली रे चतुर नर हरियाली रे,
सुन्दर नर जी हो, कहिज्यो हियइ विमासि।
साचा पांच कारण कह्या जी हो, कहै तेह नै साबासि ॥२॥ह०॥
चांच सदा चरतो रहै जी, वमन करइ आहार।
राति दिवस रमतउ रहइ जी हो, न चढ़इ नरवर वार ॥३॥ह०॥
भूखउ बोलइ अति घणउ जी हो, बोल्यु ं नवि समझाय।
नारि संघातइ नेहलउ जी हो, बिन अपराध बंधाय ॥४॥ह०॥

ते पणि पंखि बापड़उ जी हो, प्रमदा पाड्यउ पास ।
समयसुन्दर कहइ ते भणी जी हो, नारी तउ म करिएउ बेसास ॥५॥हु०॥
इतिहियाली गीतद्वयम् पं. मानसिंह लेखि
(उत्तर : कलम)

कविवर धर्मसी (धर्म वर्द्धन) रचित हियाली द्वय—

(३)

अरथ कहो तुम वहिलो एहनो, सखर हियाली हे सार । चतुरनर ।
एक पुरुष जग माहे परगड़ो, सहु जाणे संसार ॥१॥च०॥
पग विहुणो परदेसे भमैं, आवै तुरतउ जाय ।
बैठो रहै आपणे घरि बापड़ो, तो पिण चपल कहाय ॥२॥च०॥
कोइक तो तेहनें राजा कहै, कोई तो कहै रंक ।
सांचो सरल सुजांण कहै सहु, वलि तिण गाहे रे वंक ॥३॥च०॥
पोते स्वारथ सुं पांचां मिलै, आप मुरावो रे एह ।
धन तिके नर कहै श्री धर्मसी, जीपे तेह रे जेह ॥४॥च०॥
(उत्तर : मन)

(४)

चतुर कहो तुम्हे चूंपसुं अरथ हियाली एहोरे ।
नारी एक प्रसिद्ध छ, सगला पास सनेहो रे ॥१॥च०॥
ओलै बैठी एकली, करै सगलाइ कामो रे ।
राती रस भीनी रहै, छोडै नहीं निज ठामो रे ॥२॥च०॥
चाकर चोकीदार ज्यूं, बहुला राखै पासो रे ।
काम कराव ते कन्हा, विलसै आप विलासोरे ॥३॥च०॥
जोडै प्रीति जणे जणे, त्रोड़ै पिण तिण वारो रे ।
करिज्यो वश धर्मसी कहै, सुख वांछो जो सारो रे ॥४॥च०॥
(उत्तर : जीभ)